पञ्चाध्यायी प्रवचन

[अष्टम भाग]

प्रवक्ता :
अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक
श्री मनोहर जी वर्णी 'सहजानन्द' जी महाराज

प्रबन्ध-सम्पादक :
श्री नरेन्द्र कुमार जैन, (दरी वाले)
नया बाजार, सहारनपुर

प्रकाशक :
मंत्री, भारत वर्षीय वर्णी जैन साहित्य मंदिर
मुजफ्फरनगर

●

मुद्रक :
श्री काशीराम शर्मा 'प्रफुल्लित'
साहित्य प्रेस, सहारनपुर

●

सन् १९७२] [न्यौछावर ४ रु.

श्री सहजानन्द शास्त्रमालाके संरक्षक महानुभाव—

(१) श्रीमान् ला० महावीरप्रसाद जी जैन, बैंकर्स, सदर मेरठ संरक्षक, अध्यक्ष एवं प्रधान ट्रस्टी

(२) श्रीमती सौ० फूलमाला देवी, धर्मपत्नी श्री ला० महावीरप्रसाद जी जैन बैंकर्स सदर मेरठ, संरक्षिका

श्री सहजानन्द शास्त्रमालाके प्रवर्तक महानुभाव—

१	श्रीमान्	लाला लालचन्द जी जैन सर्राफ	सहारनपुर
२	"	सेठ भवरीलाल जी जैन पाण्ड्या	झूमरीतिलैया
३	"	कृष्णचन्द जी रईस	देहरादून
४	"	सेठ जगन्नाथ जी जैन पाण्ड्या	झूमरीतिलैया
५	"	श्रीमती सोवती देवी जैन	गिरीडीह
६	"	मित्रसैन नाहरसिंह जी जैन	मुजफ्फरनगर
७	"	प्रेमचन्द ओमप्रकाश जी जैन प्रेमपुरी	मेरठ
८	"	सलेकचन्द लालचन्द जी जैन	मुजफ्फरनगर
९	"	दीपचन्द जी जैन रईस	देहरादून
१०	"	बारूमल प्रेमचन्द जी जैन	मसूरी
११	"	बाबूराम मुरारीलाल जी जैन	ज्वालापुर
१२	"	केवलराम उग्रसैन जी जैन	जगाधरी
१३	"	गेंदामल दगडूशाह जी जैन	सनावद
१४	"	मुकन्दलाल गुलशनराय जी जैन नई मण्डी	मुजफ्फरनगर
१५	"	श्रीमती धर्मपत्नी बा० कैलाश चन्द जी जैन	देहरादून
१६	"	जयकुमार वीरसैन जी जैन सर्राफ	सदर मेरठ
१७	"	मंत्री दिगम्बर जैन समाज	खण्डवा
१८	"	बाबूराम अकलङ्कप्रसाद जी जैन	तिस्सा
१९	"	विशालचन्द जी जैन-रईस	सहारनपुर
२०	"	हरीचन्द ज्योतिप्रसाद जी जैन ओवरसियर	इटावा
२१	"	सौ० प्रेम देवीशाह सु० बा० फतेहलाल जी जैन संघी	जगाधरी
२२	"	मन्त्राणी दिगम्बर जैन महिला समाज	खण्डवा
२३	"	सागरमल जी जैन पाण्ड्या	गिरीडिह
२४	"	गिरधारीलाल चिरञ्जीलाल जी जैन	गिरीडिह
२५	"	राधेलाल कालूराम जी जैन मोदी	गिरीडिह
२६	"	फूलचन्द बैजनाथ जी जैन नई मण्डी	मुजफ्फरनगर
२७	"	सुखबीरसिंह हेमचन्द जी जैन सर्राफ	बड़ौत
२८	"	गोकुलचन्द हरकचन्द जी जैन गोधा	लालगोला
२९	"	दीपचन्द जी जैन सुपरिन्टेन्डेण्ट इञ्जीनियर	कानपुर

१०	श्रीमान् लाला मन्त्री दि० जैन समाज नाई की मण्डी		आगरा
३१	„	संचालिका दि० जैन महिलामण्डल नमककी मण्डी	आगरा
३२	„	नेमिचन्द जी जैन रुड़की प्रेस	रुड़की
३३	„	मक्खनलाल शिवप्रसाद जी जैन चिलकाना वाले	सहारनपुर
३४	„	रोशनलाल के० सी० जैन	सहारनपुर
३५	„	मोल्हडमल श्रीपाल जी जैन, जैन वेस्ट	सहारनपुर
३६	„	शीतलप्रसाद जी जैन	सदर मेरठ
३७	„	बनवारीलाल निरञ्जनलाल जी जैन	शिमला
३८	„	❀ जीतमल इन्द्रकुमार जी जैन छाबडा	झूमरीतिलैया
३९	„	❀ इन्द्रजीत जी जैन वकील स्वरूपनगर	कानपुर
४०	„	❀ मोहनलाल ताराचन्द जी जैन बडजात्या	जयपुर
४१	„	❀ दयाराम जी जैन आर. ए. डी. ओ	सदर मेरठ
४२	„	❀ मुन्नालाल यादवराम जी जैन	सदर मेरठ
४३	„	+ जिनेश्वरप्रसाद अभिनन्दनकुमार जी जैन	सहारनपुर
४४	„	+ जिनेश्वरलाल श्रीपाल जी जैन	शिमला

नोट—जिन नामोके पहिले ❀ ऐसा चिन्ह लगा है उन महानुभावोंकी स्वीकृत सदस्यताके कुछ रुपये आगे हैं शेष आने हैं। तथा जिनके पहिले + ऐसा चिन्ह लगा है उनकी स्वीकृत सदस्यताका रुपया अभी तक कुछ नही आया, सभी बाकी है।

●

आमुख

प्रिय धर्म बन्धुओ ! आज आपके हस्तमे ऐसे ग्रन्थका प्रवचन आ रहा है जिसमें आत्माके अस्तित्व व परिणतिके सम्बन्धमे दार्शनिक, सैद्धान्तिक व आध्यात्मिक पद्धतिसे आत्मतत्त्वका साधारणसे लेकर असाधारण तक विश्लेषणपूर्वक वर्णन है। यह ग्रन्थ पाँच अध्यायोमें सम्पन्न होना था, किन्तु रचयिता संत केवल दो अध्यायोको लिख पाये बादमें आयु पूर्ण हो गई होगी, ऐसा अनुमान है। यदि यह ग्रन्थ पाँच अध्यायोमे सम्पन्न हो जाता तो मानवसमाजके लिये और भी अधिक निधि प्राप्त हो जाती। उपलब्ध दो अध्यायोमे जो तत्त्व सामग्री है वह तत्त्वजिज्ञासु एवं आत्मार्थी जनोके लिये अत्यधिक उपयोगी है।

प्रथम अध्यायमें द्रव्य सामान्यका स्वरूप प्रबल युक्तियोसे सिद्ध कर करके प्रकट किया है। फिर तत्त्वज्ञानमें सहायक व्यवहारनयके विषयसे ऊपर उठाकर अनुभवमे ले

जानेके उद्देश्यसे निर्बाध परमशुद्ध निश्चयनयका अवलम्बन कराया गया है। इससे व्यवहारनय प्रतिषेध्य व निश्चयनय प्रतिषेधक है यह भलीभांति प्रकट किया गया है।

द्वितीय अध्यायमें पूर्व अध्यायसे प्रसिद्ध द्रव्य सामान्यमेंसे आत्मतत्त्वकी युक्तियों से सिद्धि की गई है। अभूतार्थनयसे गुण पर्यायके भेदोंके परिचयके माध्यमसे आत्मा का विविध परिज्ञान कराकर अनुभूतिकी ओर ले जानेके लिये अखण्ड आत्म तत्त्वका भूतार्थनयसे परिज्ञान कराया गया है। इस तत्त्वका विस्तार सहित विवेचन यों करना आवश्यक हुआ कि श्रेयस्कर सम्यग्दर्शनका लाभ भूतार्थनयके आश्रयसे होता है। इस तथ्यके विवेचनके अनन्तर इन्द्रियज सुख और इन्द्रियज ज्ञानकी हेयताका वर्णन तो अपूर्व ही है। इसके अनन्तर सम्यग्दर्शनके अङ्गोंका विशद वर्णन तो मुमुक्षु जनोंको अद्भुत प्रसाद उत्पन्न करने वाला है।

बड़े हर्षका विषय है कि इस ग्रन्थराजपर अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ पूज्यश्री १०५ क्षुल्लक मनोहर जी वर्णी 'सहजानन्द' जी महाराजने सरल व रोचक प्रवचन करके इस ग्रन्थकी अतीव गूढ गाथाओंकी रहस्यमयी तात्त्विकताको स्पष्ट करके दर्शाया है। जिससे प्रत्येक मुमुक्षु जन इस अथाह ज्ञान-सागरके अमूल्य रत्नोंकी प्राप्ति करके महामोहान्धमयी मानव जीवनकी कल्मषताको धोकर आत्माके निर्मल सहज स्वरूपका द्रष्टा बननेमें अग्रसर हो सके। अस्तु!

तत्त्वज्ञान-प्रभावित :

काशीराम शर्मा 'प्रफुल्लित'

व्याकरणरत्न

साहित्य प्रेस सहारनपुर]

पञ्चाध्यायी प्रवचन

[षष्ट भाग]

●

प्रवक्ता :
अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक मनोहर जी वर्णी
'सहजानन्द' जी महाराज

●

उक्तं सदिति यथा स्यादेकमनेकं सुसिद्धदृष्टान्तात् ।
अधुना तद्वाङमात्रं प्रमाणनयलक्षणं वक्ष्ये ॥ ५०३ ॥

प्रमाण और नयके स्वरूपके वर्णनका सकल्प—सत् कथञ्चित् एक है तो कथञ्चित् अनेक भी है। सत् कथञ्चित् नित्य है, कथञ्चित् अनित्य है आदिक परस्पर विरुद्ध दो धर्मोंके समन्वयके साथ स्याद्वाद पद्धतिसे अनेक प्रसिद्ध दृष्टान्तोके द्वारा अनेकान्तात्मकताका यह मर्म बताया जा चुका है, वह सब नय बलसे सिद्ध होता था और सर्व नय बलसे जो वस्तु परिज्ञान किया गया वह परिज्ञान प्रमाणका रूप भी बनता था। तो इस तरह विवरण विश्लेषणमें नय और प्रमाणका उपयोग किया गया है। उस ही नय और प्रमा के सम्बन्धमे अब यहाँ सक्षेपमे उसका लक्षण बतायेंगे। नय और प्रमाण ये दोनो ही ज्ञानके प्रकार हैं। सर्वरूपसे परिपूर्ण वस्तुका जानना है वह तो प्रमाण है और प्रमाणसे जाने हुए पदार्थमे किसी धर्मकी जानकारी की जा रही है उसको विशेषतासे समझा जा रहा है वह नय है। इस ही ढङ्गसे पूर्व प्रसङ्गोमें नयका उपयोग किया गया है और उन नयोसे जो वस्तु जाना गया है उसको सर्वरूपसे परखनेपर प्रमाणका रूप बनता है तो उन विधियोमे जो कुछ समझा गया है उन्ही उपायोको अब लक्षणात्मक ढङ्गसे बतला रहे हैं।

इत्युक्त लक्षणेऽस्मिन् विरुद्धधर्मद्वयात्मके तत्त्वे ।
तत्राप्यन्तरस्य स्यादिह धर्मस्य वाचकश्च नयः ॥ ५०४ ॥

नयका स्वरूप— इससे पूर्व जो कुछ भी तत्त्वके स्वरूपका वर्णन किया है उस वर्णनमे यह स्पष्ट है कि तत्त्व विरुद्ध दो धर्म स्वरूप है जैसे सत् कथञ्चित् एक

द्रव्यनयो भावनयः स्यादिति भेदाद् द्विधा च सोऽपि यथा ।
पौद्गलिकः किल शब्दो द्रव्य भावश्च चिदिति जीवगुणः ।५०५।

नयके प्रकार—वह नय दो प्रकारका होता है एक द्रव्यनय दूसरा भावनय द्रव्यनयका अर्थ है कि. अनन्तधर्मात्मक वस्तुमेमे किसी एक धर्मका प्रतिपादन किया जा रहा हो तो वह सब शब्दात्मक पद्धति द्रव्यनय कहलाता है और वहां जो कुछ ज्ञानमे परिचय पाया जा रहा है, जिस एक धर्मका बोध किया जा रहा है उस दृष्टि को भावनय कहते हैं। तो जो पौद्गलिक शब्द है वह द्रव्यनय हुआ और जो जीवका गुणरूप चिद्भाव है ज्ञानविकल्प है वह भावनय कहलाता है। भावनय तो ज्ञावकी ही पर्याय है और द्रव्यनय उस शब्द पद्धतिका नाम है। इस तरह उस नयके स्वार्थ और परार्थ ये दो प्रकारके उपयोग होनेके कारण द्रव्यनय और भावनय ये दो भेद नयमे प्राप्त होते हैं। कोई ज्ञान केवल अपने लिए किया जाता है उसको स्वार्थ कहते हैं और जो दूसरोंको समझानेके लिए कहा जाता है उसको परार्थ कहते हैं। ज्ञानकी ५ परिणतियां होती हैं–मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनः पर्ययज्ञान और केवलज्ञान। इन ५ ज्ञानोमे श्रुतज्ञानको छोडकर शेषके चार ज्ञान स्वार्थ ही होते हैं। उन

ज्ञानोसे जान लिया बस व्यवहार कुछ नही चला, किन्तु श्रुतज्ञान स्वार्थ और परार्थ दो प्रकारका होता है। श्रुतज्ञान स्वयं सविकल्प ज्ञान है और वहां ही समझानेकी पद्धति बनती है और ऐसे मन वाले पुरुष ही इस तरहके वचनोसे वस्तु परिचय करानेकी चेष्टा करते है। तो जो दूसरेके लिए ज्ञान प्रयास है वह परार्थ श्रुतज्ञान है और जो स्वयके समझने मात्रके लिए ज्ञान हो रहा है वह स्वार्थ ज्ञान है। परार्थ ज्ञानके प्रयासमे वचनोका आलम्बन होता है यद्यपि उन वचनोके सस्कारोमे रहने वाले पुरुषको स्वार्थज्ञानके कालमे भी अन्तर्जल्प होता है लेकिन वह अन्तर्जल्प होकर रह जाता है, उसका व्यवहाररूप नही बनता। परार्थ श्रुतज्ञानमे वचनालापका प्रयोग चलता है। तो नयके उन दो भेदोमे द्रव्यनय तो पौद्गलिक शब्द रूप है और भावनय चैतन्यकी परिणतिरूप है।

यदि वा ज्ञानविकल्पो नयो विकल्पोऽस्ति सोऽप्यपरमार्थः।
न यतो ज्ञानं गुण इति शुद्धं ज्ञेयं च किन्तु तद्योगात् ॥५०६॥

नयका स्पष्ट स्वरूप और उसकी अपरमार्थता- अथवा नयका यह लक्षण भी उपयुक्त है कि ज्ञानविकल्प को नय कहते है। इस नयके लक्षणमे भावनय की प्रधानतासे वर्णन किया है। अनन्त धर्मात्मक वस्तुमे किसी एक दृष्टिकी प्रधानता से जो एक धर्मकी समझ हुई वह समझ विकल्परूपसे उत्पन्न हुई है, क्योकि उस अखण्ड एक वस्तुमे भेद करना, खण्ड करना, एक धर्मका परिज्ञान करना यह कार्य विकल्पके बिना नहीं होता। अतएव वह ज्ञान विकल्प है, नय है सो वह परमार्थ नही है। यहाँ भेद और अभेदकी दृष्टिसे परमार्थ और अपरमार्थका विश्लेषण किया गया है। भेद दृष्टि करके एक धर्मके परिज्ञानका जो विकल्प हुआ है वह विकल्प परमार्थभूत नही है, इसका कारण यह है कि नय न तो शुद्ध ज्ञानगुणका नाम है और न शुद्ध ज्ञेयका नाम नय है। जो पदार्थ जाननेमे आया है वह पदार्थ नय तो नही कहलाता। नय तो हुआ यहाँ ज्ञाता पुरुषके अभिप्रायका नाम और वह अभिप्राय चूकि विकल्पात्मक है, खण्ड रूप है अतएव उसे शुद्ध ज्ञान नही कह सकते हैं। तो तब यह नय, विकल्प न शुद्ध ज्ञान रहा, न शुद्ध ज्ञेय रहा, जो जाननेमे आ रहा वह भी ज्ञान नही, जो विकल्प बन रहा है वह भी ज्ञान नही है, वह ज्ञानका विकल्प है, ज्ञानस्वभावका खण्ड परिणमन है, वह ज्ञान स्वभाव नही, विशुद्ध ज्ञान नही है। अतएव नय न केवल ज्ञेय रहा न ज्ञान रहा किन्तु ज्ञान ज्ञेयके सम्बन्धमे जो विकल्प हो रहा है वह नय कहलायेगा। नयके सर्गमे ज्ञेयका तो आलम्बन है वह तो विषयभूत बन रहा है और यहाँ जाननेका विकल्प उठ रहा है सो वह ज्ञान विकल्पनय कहलाता है। इसी कारण नयको न प्रमाण कहा जा सकता है और न अप्रमाण कहा जा सकता है। वह तो प्रमाणका अंश है। ज्ञानका एक विकल्प है ऐसा वह ज्ञान विकल्परूप नय परमार्थभूत

नही है, यहाँ यह भी बात ध्वनित होती है कि जो परमार्थभूत नही हैं वह तो हेय ही हो सकता है। वस्तुतः देखा जाय तो विकल्पज्ञान सब हेय हैं अर्थात् ज्ञान विकल्पोसे पार होकर एक निर्विकल्प अनुभवमे पहुचना ही कल्याणमय परिस्थिति है। अतः जितने भी खण्डज्ञान हैं, वे सब हेय कहलायेंगे। यो यह ज्ञानविकल्परूप नय ज्ञान और ज्ञेयके सम्बन्धमें होने वाला विकल्प है और वह परमार्थभूत नही है।

ज्ञानविकल्पो नय इति तत्रेय प्रक्रियापि संयोज्या।
ज्ञानं ज्ञानं न नयो नयोऽपि न ज्ञानमिह वि   ।।५०७।

स्याद्वादनीतिसे ज्ञान और नयमे अन्तरका प्रदर्शन - उक्त गाथामें यह बताया है कि ज्ञानविकल्पको नय कहते हैं। तो यहाँ प्रस्तुत बात यह हुई कि ज्ञान विकल्प नय है। अब इस सम्बन्धमे भी यही प्रक्रिया लगाई जा सकती है और लगाई जानी चाहिए कि ज्ञान ज्ञान है, नय नही है और नय भी नय है, ज्ञान नही है। स्याद्वाद नीति के अनुसार जिस तत्त्वको उपयोगके सम्मुख रखा जाया है वह तत्त्व तो स्वका रूप है और उससे भिन्न अन्य सब पररूप हैं। यहाँ बताया जा रहा कि ज्ञान का विकल्प नय है। तो इससे ही यह सिद्ध हो गया कि ज्ञानका स्वरूप अन्य है, विकल्पका स्वरूप अन्य है अन्यथा ज्ञान ही नय हो जाता, किन्तु ज्ञान ही नय नहीं है ज्ञानका विकल्प नय है और इस प्रक्रियासे यह स्पष्ट हो जाता है कि ज्ञान ज्ञान ही है, वह नय नही होता और नय नय ही है, वह ज्ञान नही होता। ज्ञान है अखण्ड तत्त्व और ज्ञान विकल्प है खण्डरूप। अखण्ड और खण्ड ये दोनो प्रकट भिन्न भिन्न तत्त्व हैं। तो इस तरह ज्ञान विकल्प नय है इस लक्षणमे भी स्याद्वाद नीतिसे यह समझ लेना चाहिए कि जो ज्ञान है, शुद्ध ज्ञान है वह ज्ञान ज्ञान ही है, नय नही कहलाता। और जो नय है याने ज्ञानका विकल्प है भेद है, एक अंशका परिचय है वह ज्ञान नही है अर्थात् वह विशुद्ध ज्ञान नही है। यो स्याद्वाद नीतिसे यह समस्त स्वरूप गुम्फित है। नयज्ञान क्यो नही कहलाता ? यो नही कहलाता कि नय विकल्परूप है। ज्ञान, जो शुद्ध है स्वय है, जो ज्ञानका विशुद्ध रूप है वह विकल्परूप नही है, यद्यपि ज्ञानका लक्षण विकल्परूप भी कहा गया है, किन्तु उस विकल्पका अर्थ मात्र प्रतिभास है, जानन है, और इस प्रसङ्गमे विकल्पका अर्थ अनन्त धर्मात्मक वस्तुमें भेद करके किसी अंशका ग्रहण करना है। तब यह अंश अंशी नही है अंशी अंश नहीं है, यद्यपि अंश अंशीका ही परिणमन है विकल्प ज्ञानका ही परिणमन है, परन्तु लक्षण वही कहलाता जिससे ठीक लक्ष्य पहिचाना जाय। तो उस लक्षण विधिसे निरखनेपर ज्ञान ज्ञान ही है नय नही है, नय नय ही है ज्ञान नही है।

उन्मज्जयि नयपक्षो भवति विकल्पो विवक्षितो हि यदा।
न निवक्षितो विकल्पः स्वयं निमज्जति तदा हि नयपक्षः ।५०८

नयपक्षके उदित और अस्तगत होनेका आधार—ज्ञान विकल्पको नय कहते है इस लक्षणसे स्याद्वाद नीतिमे जो यह बात घटित की गई है कि ज्ञान ज्ञान ही है नय नही है नय नय ही है, ज्ञान नही है, इसका आशय यह है कि जिस समय विकल्प विवक्षित होता है अनन्त धर्मात्मक वस्तुमेंसे एक धर्मको जब कहा जा रहा है ऐसी उस विकल्प विवक्षाके समय, तो नयपक्ष उदित हो जाता है, किन्तु जिस समय वह विकल्प विवक्षित नही रहता उस समय वस्तुमेसे एक धर्मको कहनेकी विवक्षा नही रहती, उस समय नय पक्ष अपने आप विलीन हो जाता है अर्थात् नयपक्षका जीवन विवक्षाके आधारपर है, अथवा विकल्पात्मक परिचयात्मक ज्ञानात्मक नयका जीवन दृष्टिके आधारपर है। कोई पुरुष नयका प्रयोग करे और योग्य दृष्टि न बनाये तब वह विपरीत हो जाता है। यही कारण है कि अनेक दर्शनोने भी वस्तुके स्वरूपका ही वर्णन किया, अशोका वर्णन किया किन्तु उसकी दृष्टि नही रखी कि किस दृष्टिमे यह अश विदित होता है इस कारण वह एकान्त बना, और परीक्षा करनेपर असमीचीन हो गया है यहा यह बताया जा रहा है कि ज्ञान ज्ञान ही है नय नही है, इसका कारण क्या है ? शुद्ध ज्ञान तो विवक्षामे नही उदित होता। जब जब भी विवक्षा होगी तब तब नयपक्ष उदित होगा और वही विवक्षा जब अस्त हो जाती है तो उसके साथ ही नयपक्ष भी अस्त हो जाता है। जैसे जीव पर्याय दृष्टिसे अनित्य है, तो जीव की अनित्यता पर्यायकी विवक्षापर निर्भर हुई। जिस समय यह ज्ञाता पुरुष पर्याय दृष्टिका अस्त करदे, इसकी पर्याय दृष्टि न रहेगी तो वहाँ अनित्यपक्ष भी न रहेगा। इस प्रकार सभी जगह यह सिद्ध होगा कि जो भी नय उदित होता है वह विवक्षा अथवा दृष्टिके आधारपर उदित होता है। उस विवक्षा और दृष्टिकी समाप्ति होने पर नय भी समाप्त हो जाता है। इस तरह भी यह समर्थित होता है कि ज्ञान ज्ञान ही है नय नही है और नय नय ही है, ज्ञान नही है।

संदृष्टिः स्पष्टेयं स्यादुपचाराद्यथा घटज्ञानम्।
ज्ञानं ज्ञानं न घटो घटोऽपि न ज्ञानमस्ति स इति घटः ॥५०९॥

विकल्पात्मक ज्ञानकी ज्ञानरूपताके व्यवहारका दृष्टान्त द्वारा विवरण—ऊपर यह बताया गया है कि नय न तो शुद्ध ज्ञान गुण है और न शुद्ध ज्ञेय है। जब विकल्प विवक्षित होता है तब नयपक्ष प्रकट होता है और विकल्पके अस्त होनेपर नय पक्ष भी अस्त हो जाता है। तो वह नय जो कि द्रव्यनय, भावनयके भेदसे दो प्रकार का बताया गया है उसमे द्रव्यनय भी ज्ञानरूप नही है और भावनय भी ज्ञान गुणरूप नही है, फिर भी उन्हें ज्ञान कहना यह उपचार कथन है। इस विषयमे यह दृष्टान्त ठीक घटित होता है कि जैसे घट ज्ञान उपचारसे कहा जाता है ज्ञान और घट ऐसे दो पदार्थ हैं। ज्ञान तो आत्माका धर्म है और घट एक पौद्गलिक पदार्थ है। ज्ञान अपने

आपमे स्वयं परिपूर्ण है, घट अपने आपमे परिपूर्ण है। ज्ञानमे घट नही घटमे ज्ञान नही, फिर भी घटको विषय करने वाले ज्ञानको घटज्ञान कहा जाता है। तो यहाँ वास्तवमे ज्ञान घटरूप नहीं हो जाता और न घट ज्ञानरूप बन जाता है। ज्ञान तो ज्ञान ही रहता है तथा घट घट ही रहता है। ज्ञानका स्वभाव जानना है, उसका आधार आत्मद्रव्य है। घटका स्वभाव रूपादिमय रहना है, उसका आधार वही पौद्गलिक पिण्ड है। तो घट और ज्ञान जैसे ये जुदे-जुदे स्वरूप वाले हैं फिर भी घटको विषय करने वाले ज्ञानको घटज्ञान कहा है, वह उपचार कथन है इसी प्रकार द्रव्यनय जो कि शब्दात्मक है उसको ज्ञानरूप कहना यह उपचारसे है अथवा भावनय जो कि ज्ञानका एक खण्ड परिणमन है उसको ज्ञान कहना यह भी उपचारसे है इस तरह नय पक्ष परमार्थभूत नही है, किन्तु उसमे परमार्थभूतताका समावेश उपचारसे होता है।

इदमत्र तु तात्पर्यं हेयः सर्वो नयो विकल्पात्मा।
बलवानिव दुर्वारः प्रवर्तते किल तथापि बलात् ॥ ५१० ॥

नयोकी विकल्पात्मता हेयता व दुर्वार प्रवृत्ति—नयके विषयमे यह तात्पर्य समझना कि जितने भी विकल्पात्मक नय हैं वे सभीके सभी हेय हैं। इस प्रसङ्गमे यह शङ्का होना स्वाभाविक है कि जब विकल्पात्मक ही नय होते हैं और वे सभी नय हेय होते हैं तब उनका वर्णन क्यो किया जाता है और उनका सहारा लेने को कहा भी क्यो जाता है ? समाधान इसका यह है कि यद्यपि यह बात ठीक ही है कि विकल्पात्मक नय हेय है क्योकि विकल्प एक खण्ड परिणमन है और वह परमार्थ भूत नहीं है, उस खण्ड रूपकी दृष्टि रखना भी हितकर नहीं है, अत. यह विकल्पात्मक नय हेयरूप है तो भी इस व्यवहारनयका कहना यो अनिवार्य है कि इसके प्रयोग बिना पदार्थ व्यवस्था जानी नही जा सकती। तब यह व्यवहारनय बलवानकी तरह दुर्निवार होकर प्रवर्तित हो जाता है। कोई दूसरा उपाय ही नही है कि उस परमार्थ तत्त्वको हम समझ सकें, और परमार्थकी समझ बिना यह ससारचक्र मिटता नही है। आत्माकी शुद्ध अवस्था नहीं प्रकट हो सकती तब यह व्यवहारनय बलवानकी तरह दुर्निवार होता हुआ प्रवर्तित होता है, अर्थात् इस व्यवहारनयका प्रयोग करना ही पड़ता है अन्यथा किसी भी उपायसे परमार्थ तत्त्वका बोध नहीं हो सकता। इस कारण व्यवहारनय यद्यपि उपचारसे प्ररूपित है और वह हेय है, विकल्प रूप है तो भी उसका कहना आवश्यक ही है। इसी कारण तो अध्यात्म सिद्धान्तमें बताया गया है कि व्यवहारनय परमार्थका प्रतिपादक है। दृष्टि तो परमार्थ स्वरूपकी रखना है, परमार्थता यही है कि यह आत्मा अखण्ड एक अभेद है, किन्तु ऐसे अखण्ड एक अभेद निजतत्त्वकी समझ गुणपर्यायका विस्तार किए बिना बन नहीं सकता इस कारण गुण पर्यायके वर्णनके भी रूपसे व्यवहार नयका आश्रय करना उचित ही प्रतीत होता है।

अथ तद्यथा तथा सन् सन्मात्रं मन्यमान इह कश्चित् ।
न विकल्पमतिक्रामति सदिति विकल्पस्य दुर्निवारत्वात् ।५११।

नयमात्रकी विकल्पात्मकताका उदाहरण पूर्वक स्पष्टीकरण- जितने भी नय है वे सभी विकल्पात्मक हैं इस बातको इस दृष्टान्तसे भी समझ सकते हैं। जैसे किसी पुरुषने सद्भूत वस्तुमे अन्य कोई विकल्प नही समझा किन्तु उसे सन्मात्र ही समझा हो, जैसे बहुतसे दार्शनिक हैं जो पदार्थका भेद विकल्प गुण पर्याय कुछ भी नही मानते किन्तु एक परमार्थ सन्मात्र ही है, ऐसा स्वीकार करते है तो भले ही उस सत्मे कोई विकल्प न किए जा रहे हो, समर्थतासे नही किन्तु माने ही नही गए उस प्रकारकी दृष्टि ही नही पहुच रही, वहाँ विकल्प तो अन्य अन्य रूप बहुत चल ही रहे है लेकिन जिस दर्शनमे केवल सन्मात्रका ही तत्त्व कहा गया हो तो वहाँ अन्य कोई विकल्प बताया ही नही गया ऐसे विकल्पको उठा भी नही रहे तो भी, सन्मात्र है वस्तु, इस विकल्पसे तो दूर न हो सके यहाँपर भी वह ज्ञान विकल्पसे परे नही कहा जा सकता, क्योकि उसके ज्ञानमे सत् ऐसा विकल्प तो आ ही चुका। तो विकल्प की प्रवृत्ति दुर्निवार है, यह सबको आता ही है, चाहे कोई किसी तरहका दर्शन बनाये विकल्प बनाये विकल्प आते ही हैं और यह तो वस्तु स्वरूपके ज्ञानके अर्थ होने वाले विकल्पकी चर्चा है। अनेक अटपट विकल्प तो इस मोही जीवके चल ही रहे हैं, जो कुछ बुद्धिगत भी हैं, कुछ अबुद्धिगत भी हैं। तो यो विकल्पोका होना दुर्निवार है। कोई केवल सत् ही तत्त्व माने तो वहाँपर भी सत् है इस विकल्पको तो वे ज्ञानसे बाहर नही कर सकते। दर्शन ही जिन्होने ऐसा गँढा हा या जिनका दर्शन इस तरहसे गढा हुआ है कि विकल्पजाल वहाँ है ही नही, भेद नही, परिणमन नही, केवल सन्मात्र तत्त्व है, तो सन्मात्र समझा यह ज्ञान भी विकल्पात्मक ही है, क्योकि सत्त्व भी तो पदार्थका एक अंश है। उस पदार्थको किसी ढङ्गसे समझा ही तो है। तो यो जो कुछ यहाँ समझ बन रही है, विकल्प उठते हैं वे सब एक अंशरूप हैं। तो यो नय का आना सर्वत्र दुर्निवार है, वह रोकेसे भी रुकने की बात नही, सो विकल्प होते हैं, पर इतनी सावधानी रखनी चाहिए कि हमारे ये विकल्प इस तरहके हुए जो परमार्थ भूत स्वरूपकी ओर ले जायें। तो इस प्रसङ्गमे यह बात बतायी गई है कि वस्तु अखण्ड अवक्तव्य है परमार्थभूत है उसका वही स्वरूप है, पर उसको व्यवहारनयसे ही समझाया जा सकता है। यो व्यवहारनय विकल्पात्मक होनेपर भी अथवा किसी ही प्रकारका कुछ भी नय हो विकल्पात्मक होनेपर भी उसका प्रयोग करना आवश्यक होता है अत. प्रयोग किया जाता है। वस्तुतः तो विकल्प सभी हेय है, विकल्पात्मक नय भी सभी हेय हैं।

स्थूलं वा सूक्ष्मं वा बाह्यान्तर्जल्पमात्रवर्णमयम् ।
ज्ञानं तन्मयमिति वा नयकल्पो वाग्विलासत्वात् ॥ ५१२ ॥

स्थूल व सूक्ष्म सर्व वाग्विलासोकी नयरूपता चाहे कोई वचन स्थूल हो, चाहे सूक्ष्म हो, जैसे कि प्रकट बोलनेमें आया हुआ शब्द यह स्थूलजल्प है, इसको बाह्यजल्प कहते हैं और भीतर ही वचन विकल्पकी योग्यता वाले पुरुषके ज्ञानके साथ ही जो मन ही मन तद्वाचक वचन उठ बैठते हैं वे अन्तर्जल्प कहलाते हैं। तो बाह्यजल्प अथवा अन्तर्जल्प जितने भी वचन हैं, वे सब वर्णमय हैं, इसी कारण वे नतरूप हैं। यद्यपि वचन पौद्गलिक चीज है उसे नय न कहा जाना चाहिए। नय तो ज्ञानका एक प्रकार है फिर भी विषय विषयीके विचारसे उन्हें नयरूप कहा गया है वे सब वचन विन्यासरूप हैं। यो जितने भी वचन विन्यासरूप सन्दर्भ है वचनात्मक कथन है वह सब नयात्मक है, इसी प्रकार उन वचनोका जो बोध है वह भी नयस्व-रूप ही है। वचनोंमें जैसे एक विवक्षित अशपना है उसी प्रकार उन वचनोंमे विज्ञान जो वस्तु धर्म है उसमें भी एक विवक्षित अशपना है, और जो अंशका बोध है वह सब नय स्वरूप है। यो जितने भी वचनात्मक प्रयोग हैं वे सब नय कहलाते हैं।

अवलोक्य वस्तुधर्मं प्रतिनियतं प्रतिविशिष्टमेकैकम् ।
संज्ञाकरणं यदि वा तद्वागुपचर्यते च नयः ॥ ५१३ ॥

वचनोंके नयत्वकी उपचारितता—अब अन्य प्रकारसे नयकी व्याख्या कर रहे हैं कि वस्तु धर्मको जो कि विवक्षित हो, प्रतिनियत हो अर्थात् किसी भी एक वस्तु धर्मको निरखकर अथवा उस वस्तु धर्मसे विशिष्ट पदार्थको देखकर या वस्तुसे विशिष्ट धर्मको निरखकर उस धर्मवाले वस्तुको उस ही नामसे कहना यह भी एक नय है यो अश, धर्मके वाचक शब्दसे जो ज्ञान किया जाता है वह ज्ञान भी नयात्मक है। यदि शब्द निर्माण पद्धतिसे देखा जाय तो जितने भी शब्द हैं वे सभी शब्द विशे-षण रूप हैं विशेष्यरूप कुछ भी शब्द नही है। तो जो सर्वथा अखुण्ड एक वस्तुका ही प्रतिपादन कर सके ऐसा कोई वचन नही जो वजन द्रव्य पदार्थके वाचक हैं भी समग्र द्रव्यको सकेतसे कहते हैं। अर्थसे तो कोई धर्म ही कहा जाता है, जैसे ज्ञानी, ज्ञापक, आत्मा आदि किन्ही भी शब्दोसे कहा जाय तो वे शब्द उनका जो अर्थ है उस ही अर्थ को बताते हैं उस ही धर्मको बताते हैं। चैतन्य शब्द भी कहा तो चेतनसे चेतनारूप प्रतिभासनेका ही बोध किया गया। तो शब्द सभी वस्तुमे अंशके ही वाचक होते हैं। समस्त वस्तुका वाचक कोई शब्द नहीं होता। भले ही हम किसी वाचक शब्दसे समग्र वस्तुका बोध कर ल सो यह भी हमारी एक पद्धति है। जैसे ज्ञान शब्दसे हम ज्ञान गुणका बोध करते हैं, दर्शन शब्दसे दर्शन गुणका बोध करते हैं, पर ज्ञापक शब्द से ज्ञान दर्शन आदिक अनन्त धर्ममय आत्माका बोध करते हैं। सो हम सकेतसे भले ही उस अखण्डका बोध कर लें लेकिन ज्ञापक शब्द भी एक ज्ञान धर्मका ही समर्थन करता है। तो यो जगतमे जितने भी वचन हैं वे सब वचब नयात्मक हैं, अंशके ही

कथन करने वाले हैं, तो किसी भी अंश धर्ममे वस्तुका नामकरण करना यह भी एक नयात्मक प्रयास है ।

अथ तद्यथा यथाग्नेरौष्ण्यं धर्मं समक्षतोऽपेक्ष्य ।

उष्णोऽग्निरिति वागिह तज्ज्ञानं वा नयोपचारः स्यात् ॥५१४॥

वचन और विकल्पोमे नयत्वकी उपचरितताका दृष्टान्तपूर्वक वर्णन—उक्त प्रकरणको स्पष्ट करनेके लिए इस गाथामे एक दृष्टान्त दिया गया है कि जैसे अग्निका उष्ण धर्म देखकर कोई कहता है कि अग्नि उष्ण है तो अग्नि उष्ण है यह वचन नयरूप ही तो हुआ । उस अग्निमे केवल उष्णता ही हो सो बात नही है, उसमे उष्णता, प्रकाशन पाचन, ज्वलन आदिक अनेक गुण हैं पर उस अग्निको एक उष्ण धर्मसे जब कहा गया है तो वहाँ अग्नि उष्णता मात्र समझी गई है । नो शब्द किसी अंशका ही बोध कराने वाला होता है और उस अंशसे हम भले ही उस वस्तुको समझें पर साक्षात् तो उस अंश मात्र वस्तुको समझा गया है । तो जैसे अग्नि उष्ण है, इन वचनोके द्वारा एक उष्ण धर्ममे विशिष्ट ही अग्नि समझी गई है इसी प्रकार जीवको जब कहा कि जीव ज्ञानी है ज्ञापक है तो उस समय जीवमे अनेक गुण रहनेपर भी एक ज्ञानधर्मकी ही प्रतीति की गई है और वहाँ उस आत्मतत्त्वको, ज्ञानधर्मको विशिष्ट ही निरखा गया है । जब उन वचनोके द्वारा केवल एक ही धर्मका बोध किया गया तो समझना चाहिए कि जितना भी वचन द्वारा कथन है और उससे उत्पन्न हुआ ज्ञान है सो सब नयरूप ही है । यो नयरूपता दुर्निवार होकर सभी जीवोमें प्रवृत्त हो रही है । उस ही नयके बलपर हम आत्मतत्त्वके उस परमार्थभूत स्वरूपको समझ सकते हैं । यहाँ तक यह बताया गया है कि नय शब्द एक अंशके प्रकट करने वाले हैं, समग्र वस्तुको प्रकट नही करते । अतः वे सब विकल्पात्मक होने से, खण्डस्वरूप होनेसे हेय हैं परमार्थभूत नही हैं और वे सब नय शुद्ध ज्ञानगुणरूप नही, जिनका कि आश्रय करके सर्वसंकटहारी शुद्ध अनुभूतिको प्राप्त किया जा सके ।

इह किल छिदानिदानं स्यादिह परशुः स्वतंत्र एव यथा ।

न तथा नयः स्वतन्त्रो धर्मविशिष्टं करोति वस्तु बलात् ।५२५।

नयोका पारतन्त्र्य—नयोके प्रयोगमें अपेक्षाविशेषकी आवश्यकता होती है तथा प्रत्येक नय प्रतिपक्षनयकी सापेक्षता रखते हैं याने नय स्वतंत्र रीतिसे वस्तुको धर्मविशिष्ट नही बनाते हैं । जैसे कि काठके छेदनेकी क्रियामे कारणभूत कोई कुल्हाडी अपना काम करनेमे स्वतन्त्र है । भले ही प्रहार करने वालेने काठपर कुल्हाडीका प्रहार किया, यह अन्य सम्बन्धकी बात है । तो प्रहार हो जानेपर कुल्हाडी काठको छेद देती है । उस समय कुल्हाडी किसी अन्य अस्त्रकी प्रतीक्षा नही करती । सो वहाँ

छेदनक्रियाका कारणभूत कुल्हाडी छेदनकी क्रिया करनेमें स्वतन्त्र है। अथवा जो छेद रहा है ऐसा पुरुष स्वतंत्र होकर छेदन क्रियाका कार्य कर रहा है। इस प्रकार नय स्वतन्त्ररूपसे वस्तुको धर्मविशिष्ट नही बनाता है कि वह अपने, किसी बलप्रयोगसे जबरदस्ती वस्तुको धर्मयुक्त बनाये किन्तु प्रत्येक नय प्रतिपक्षनयकी अपेक्षा रखता है, याने यदि जिन नयसे जो कुछ समझा गया उसका ही एकान्त कर लिया गया तो वह स्वरूप मिथ्या हो जाता है और उसके प्रतिपक्ष नयकी अपेक्षा रखे जानने वाला पुरुष उससे विरुद्ध धर्मको भी धारणामें रखे तो उसका नय प्रयोग सम्यक हो जाता है। इसका भावार्थ यह है कि जैसे कुल्हाडीके चलानेमें यह आवश्यक नही है कि वह किसी अन्य अस्त्रकी अपेक्षा रखे तब काष्ठ छेदन करे सो यहां तो स्वतन्त्रता है, लेकिन नय प्रयोगमें उस नयके द्वारा जो कुछ समझा गया है उसकी समझ नयके द्वारा स्वतत्ररूप से न होगी। अगर केवल उस नयसे जो समझ आई उसको ही स्वतन्त्रतया मान लिया तो वह एकान्त बन जायगा। बिना किसी अपेक्षा विशेषके नयप्रयोग नहीं हो सकता। कोई दृष्टि लगानी होगी जिस दृष्टिकी अपेक्षासे नय अपने धर्मको बतला रहा है, यदि उस नय प्रयोगमें अपेक्षा विशेष नही लगाई जाती तो अर्थका अनर्थ भी हो सकता है, तब यह समीचीन साधना न बन सकेगी। इस कारण मानना चाहिए कि छेदन क्रियामें कुल्हाडीके समान स्वतन्त्र नय नही होता, किन्तु नय विवक्षाके कारण परतन्त्र है। अपेक्षा विशेष न रखे तो उसे नय नहीं कहते, किन्तु मिथ्या नय कहते हैं। इसी प्रकार प्रतिपक्षनयकी अपेक्षा न हो तो वह नय नय नहीं है- किन्तु मिथ्या नय है। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक नयका प्रयोग प्रतिपक्षी अन्य धर्मकी धारणा सहित ही होगा। जब वह समीचीन है और जिस अपेक्षासे उस नयका विषय बन रहा है उस ही अपेक्षासे वह प्रयोग होगा तब वह नय समीचीन कहलाता है।

एकः सर्वोऽपि नयो भवति विकल्पाविशेषतोऽपि नयात् ।
अपि च द्विविधः स यथा स्वविषयभेदे विकल्पद्वैविध्यात्॥५१६॥

विकल्पात्मकताकी समानताके कारण सर्व नयोंकी एकरूपता व विषयभेदसे द्विविधा— इस प्रसङ्गमे नयका लक्षण बताया गया है कि ज्ञानविकल्प को नय कहते हैं। तो यह लक्षण सभी नयोंमें घटित होता है। कोई भी नय हो वह विकल्पात्मक ही होगा। तो विकल्पात्मकताकी समानता सब नयोमे है, इस दृष्टिसे नय एक है। कितनी ही दृष्टि वाले नय हों, नय तो ज्ञानविकल्परूप है। ज्ञानविकल्पकी समानतासे नय एक ही किस्मका है। अब उसके आगे उन नयोका विषयभेद जब निरखा जाता है कि नयोने विषय किसको किया तब वहां द्वैविध्य बनता है। स्वतन्त्र दृष्टिसे तो ज्ञान-विकल्पना सबमें पाया जाता है- अतएव नय एक है, किन्तु उन नयो के विषय क्या क्या हैं? इसपर जब दृष्टि देते हैं तो चू कि अभिप्राय नाना होते हैं तो

यो नय अनगिनते होसकते हैं, किन्तु उन सभी नयोका समानता और सग्रहसे सकोचा जाय तो नय दो प्रकारके होते है। जब विषयभेद है तो विकल्पभेद भी है। जब विकल्पभेद है तो नयभेद भी बना। इस तरहसे नय दो प्रकारोमे विभक्त हो जाता है, जब नय अपने प्रतिपक्षनयकी अपेक्षा रखता है तो इतना तो सामान्यरूपसे ही जान लिया जाता है कि नय दो प्रकारके विषयोको ग्रहण करता है। एक अपने अनुकूल दूसरा उनका जो प्रतिपक्षी नय है वह उस विषयसे पृथकको विषय करता है यो विषय भेदकी दुर्निवारताके कारण उनको समझाने वाले जो वाक्य है वे भी दो प्रकार के बनते है जिन्हे सामान्य ग्राहक और विशेष ग्राहक या द्रव्यार्थिक या पर्यायार्थिक या भेदरूप व अभेदरूप किन्ही भी शब्दोसे कहो यो दो प्रकारके नय हो जाते है।

एको द्रव्यार्थिक इति पर्यायार्थिक इति द्वितीयः स्यात्।
सर्वेषां च नयानां मूलमिदं नयद्वयं यावत् ॥५१७॥

नयके मूलभेदरूप द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक नयका निर्देश - नय दो प्रकारके हैं एक द्रव्यार्थिकनय और दूसरा पर्यायार्थिकनय। यद्यपि नय अनगिनते हो सकते हैं, क्योकि विषयोके प्रकार, विषयोमे उपविषय अनेक होते हुए विषय अनेक बन जाते है। यो नय अनेक प्रकारके है किन्तु कितने भी नय हो, सम्पूर्ण नयोके मूलभूत विषय ये दो ही पाये जाते हैं। या तो वह नय भेदकी प्रधानतासे समझ रहा होगा अथवा अभेदकी प्रधानतासे समझ रहा होगा। तो जितने भी विषय है या तो भेदमें गर्भित होगे या अभेदमे गर्भित होगे। तो यो भेदको समझिये पर्याय और अभेद को समझिये द्रव्य। तो सभी नयोके मूलभूत वे दो ही प्रकार है द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनय। कही सक्षेप और विस्तार ये दो विषय बन जाते है। तो वहाँपर भी जो सक्षेप है वह अभेद अथवा द्रव्यार्थिकनयमे शामिल है और जो विस्तार है वह भेद अथवा पर्यायार्थिकनयमे गर्भित होता है। विषयोकी पद्धति मूलमे दो ही होनेके कारण नयोके भेद मूलमे दो ही होते हैं, जिनका इस गाथामे वर्णन किया गया है। चूंकि द्रव्यार्थिकनय एक मूल वस्तुको जनाता है और द्रव्यार्थिकनयके विषयका आश्रय करने से शान्तिका मार्ग प्राप्त होता है मोक्षमार्गमे इस ही अभेदनयके अवलम्बनकी प्रशसा की गई है, अतः प्रथम नम्बरमे द्रव्यार्थिकनयको गिनाया है और द्वितीय क्रममे पर्यायार्थिकनयको रखा है। यद्यपि व्यवहार अथवा पर्यायार्थिकनयकी कृपासे द्रव्यार्थिकनयका द्रव्यार्थिकनयके विषयका और परमार्थ तत्त्वका बोध होता है अत. प्रारम्भमे उपकारी है, पर अन्तमे अभेदका ही आश्रय योगीजन करते हैं जिसके बाद यह अभेदका आश्रय भी छुटता है और निर्विकल्प स्थिति बनती है। अत. यहाँ द्रव्यार्थिकनयको प्रथम और पर्यायार्थिकनयको द्वितीय कहा गया है।

द्रव्यं सन्मुखतया केवलमर्थः प्रयोजनं यस्य ।
भवति द्रव्यार्थिक इति नयः स्वधात्वर्थसंज्ञकश्चैकः ॥५१८॥

द्रव्यार्थिकनयका स्वरूप इस गाथामें द्रव्यार्थिकनयके स्वरूपपर प्रकाश डाला है, केवल द्रव्य ही मुख्यतासे जिस नयका प्रयोजन है वह नय द्रव्यार्थिकनय कहा जाता है, द्रव्यका अर्थ है जिसने पर्यायें प्राप्त की, पर्यायें प्राप्त कर रहा है पर्यायें प्राप्त करेगा, ऐसी जो एक मूलभूत वस्तु है उसको द्रव्य कहते हैं। ऐसा द्रव्य, अनादि अनन्त अहेतुक अखण्ड पदार्थ जिस नयका विषय होता है उस नयको द्रव्यार्थिकनय कहते हैं। पूर्व नीतिके अनुसार यहाँ भी यही प्रक्रिया लगाना चाहिए कि द्रव्यार्थिकनयमें द्रव्य दृष्टिकी विवक्षा है और साथ ही यह ज्ञाता जान रहा है कि केवल द्रव्यमात्र ही वस्तु नहीं है किन्तु वह पर्यायात्मक है। द्रव्यपर्यायात्मक पदार्थ है। और, अब यहाँ उस पर्यायको गौण करके मुख्यतासे द्रव्य जाना जा रहा है तो जहाँ पर्यायको गौण रखकर मुख्यतासे द्रव्य कहा जाता हो अथवा उसका ज्ञान किया जाता हो उसे द्रव्यार्थिकनय कहते है। ऐसा द्रव्यार्थिकनय एक है। क्योंकि यहाँ भेद विवक्षा नहीं है। जहाँ भेद विवक्षा है वहाँ पर्यायार्थिकनयकी निष्पत्ति है। जहाँ भेदविवक्षा नहीं है वहाँ द्रव्यार्थिकनयकी निष्पत्ति है। तब यों समझिये कि विषय दो ही प्रकारके हैं भेद और अभेद तो जो अभेदको विषय करता है वह द्रव्यार्थिकनय है तथा जो भेदको विषय करता है उसे पर्यायार्थिकनय कहते हैं।

अंशाः पर्याया इति तन्मध्ये यो विवक्षितोंशः सः ।
अर्थो यस्येति मतः पर्यायार्थिकनयस्त्वनेकश्च ॥५१९॥

पर्यायार्थिकनयका स्वरूप – अंश और पर्याय ये पर्यायवाची शब्द हैं, अंशों को ही पर्याय कहते हैं। उन अंशोंमेंसे जो अंश विवक्षित है वह अंश जिस नयका विषय है उसको द्रव्यार्थिकनय कहते हैं। यद्यपि रूढिसे पर्याय परिणमनको ही कहते हैं। जो वस्तुकी समय-समयकी अवस्थायें हैं उनको पर्याय कहते हैं, पर यहां पर्यायके समकक्षमें अंश शब्द जो दिया गया है उस शब्दसे इस नयकी विशालताका भान हो जाता है। पर्यायार्थिकनय अंशको विषय करने वाला है। कभी ज्ञाताका अभिप्राय, द्रव्यकी शक्तियों और गुणोंपर जाय और एक एक शक्तिको ज्ञानमें ले, उनका विकल्प बनाये तो यद्यपि वे शक्तियाँ द्रव्यकी भाँति शाश्वत हैं लेकिन वे अंशरूप हैं। पर्याय भी नहीं हैं वे, परिणमन नहीं है, किन्तु उस द्रव्यके अंशरूप है। अतः उन अंशोंको ग्रहण करने वाला नय ही पर्यायार्थिकनय कहलाया। तो अंशोंका नाम भी पर्याय शब्दसे भी भेदको ग्रहण करना है। उन अंशोंमेंसे विवक्षित अंश जिस नयका विषय हो वह नय पर्यायार्थिकनय है। पर्यायार्थिकनय अनेक होते हैं, क्योंकि यह भेदरूप नय,

है। भेद अनेक हुआ करते हैं। वस्तुमे अश भी अनेक होते हैं इस कारणसे अन्शोको जाननें वाले ज्ञाननय भी अनेक हैं और उन अशोका प्रतिपादन करने वाले वाक्य भी द्रव्यनय भी अनेक हैं। इस तरह जितने भी नय हैं वे सब दो प्रकारके नयोमे ही गर्भित होते हैं। वे मूलभेद है द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनय।

अधुना रूपदर्शन संदृष्टिपुरस्सर द्वयोर्वक्ष्ये।
श्रुतपूर्वमिव सर्वं भवति च यद्वानुभूतपूर्वं तत् ॥ ५२० ॥

दोनो नयोंके स्वरूपके प्रतिपादनका सकल्प—ग्रन्थकार कहते हैं कि अब उन दोनो नयोका स्वरूप दृष्टान्तपूर्वक कहेगे। दृष्टान्तपूर्वक प्रस्तुत बात कहनेसे वह सम्बन्ध प्रसङ्ग इतना स्पष्ट हो जाता है कि जैसे मानो यह पहिले ही सुना हो अथवा बहुत अनुभव किया गया हो। दृष्टान्तका अर्थ है—जहा धर्म देखा गया है। दृष्ट: अत: यत्र स दृष्टान्त:। जिस बातको सिद्ध करना चाहते है वह धर्म जहाँ अन्य घटनाओंमे पाया जाय वह सब दृष्टान्त कहलाने लगता है। दृष्टान्तमे केवल उस धर्मकी ही तुलना की जाती है जिस धर्मको सिद्ध करनेके लिए दृष्टान्त दिया गया है। प्रस्तुत वस्तुके सभी धर्म दृष्टान्तमे नही आया करते। यदि सभी धर्म आ जायें तो वह दृष्टान्त पृथक ही क्यो रहेगा ? वह दृष्टान्त भी न कहला सकेगा। तो दृष्टान्तपूर्वक कुछ भी तथ्यका प्रतिपादन करनेसे वह ऐसा स्पष्ट हो जाता है कि मानो उसको पहले समझा है, सुना है अथवा अनुभव किया है। यहाँ वर्णन किया जा रहा है द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नयका। तो द्रव्यार्थिकनय एवं पर्यायार्थिक नयके जो उदाहरण हो सकते हैं उन्ही उदाहरणोमेसे कोई कोई उदाहरण लेकर इन नयोका स्वरूप कहा जायगा, ऐसी यहाँ ग्रन्थकारने प्रतिज्ञा की है।

पर्यायार्थिकनय इति यदि वा व्यवहार एव नामेति।
एकार्थो यस्मादिह सर्वोऽप्युपचारमात्र: स्यात् ॥ ५२१ ॥

पर्यायार्थिकनय व व्यवहारनयकी अनर्थान्तरता—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकनयमेसे उनके स्वरूप वर्णन करनेके प्रसङ्गमे पर्यायार्थिकनयका स्वरूप पहले कहा जा रहा है, इसका कारण यह है कि पर्यायार्थिक नय भेदको विषय करता है, इस कारण इसका स्वरूप समझ लेना सुगम है और पर्यायार्थिकनयोके प्रयोगसे ही द्रव्यार्थिकनयके स्वरूप तक पहुचना बनता है। इस कारण इन दोनो नयोंमेसे प्रथम पर्यायार्थिकनयका स्वरूप कहा जा रहा है। पर्यायार्थिकनय और व्यवहारनय ये दोनो ही अनर्थान्तर हैं, इस कारणसे पर्यायार्थिकनय अथवा व्यवहारनय ये सब ही उपचार मात्र कहलाते हैं। पूर्वस्थलमे व्यवहारनयको उपचरित कहा गया है। और, व्यवहार-

नयको उपचरित कहनेका यह कारण बताया गया है कि व्यवहारनय पदार्थके यथार्थ रूपको नहीं कहता है। पदार्थ है अभेद अखण्डरूप जो कि परमार्थतः अवक्तव्य है। सो व्यवहारनय परम यथार्थ रूपसे तो कहनेमे समर्थ नहीं है किन्तु उस पदार्थके सम्बन्ध में कुछ भी प्रतिपादन करनेका जब प्रयास किया जाता है तो वहाँ अंशभेद करके ही उसका प्रतिपादन होता है। तो यहाँ प्रारम्भिक भी प्रतिपादन और अन्त तक भी प्रतिपादन जो हुआ है यह भेदीकरण व्यवहारके लिए किया गया है। तब जैसा व्यवहारसे बताया है परमार्थ दृष्टिसे वैसा पदार्थ नहीं है, क्योंकि पदार्थ तो अखण्ड एक रूप है। व्यवहारनयसे तो पदार्थके उस परमार्थ स्वरूपका प्रतिपादन न किया इस कारण यह उपचरित कहा गया है। व्यवहारनयका दूसरा नाम पर्यायार्थिकनय भी है। पर्यायार्थिकनय वस्तुके किसी अंशको ही तो विषय करता है, और व्यवहार भी अंशको भेदको विषय करता है, व्यवहरण व्यवहार. । तो पर्यायार्थिकनयने भी भेद विषय किया है, सिद्ध किया है, इस कारणसे पर्यायार्थिक भी उपचार मात्र है। यहाँ इतना विशेष समझ लेना चाहिए कि व्यवहारनय तो अनेक ढङ्गसे हुआ करता है। जैसे अन्य वस्तुका अन्य वस्तुके साथ सम्बन्ध बताना अन्य वस्तुका प्रभाव अन्य वस्तुमे बताना किसी सम्बन्धके कारण अनेक प्रकारके विषय व्यवहारनयके बनते हैं अतः व्यवहारनयमें उपचारपनेकी बात बहुत स्पष्ट हो जाती है। किन्तु पर्यायार्थिकनय मूलतः अभेद वस्तुमे शक्ति परिणति आदिक अंशोको करके प्रयोग करता है। तब इसमें उपचार मात्रता केवल इस नातेसे है कि चूंकि वस्तु है अभेदरूप, और यह कथन किया गया है भेद करके तो वस्तु भेदरूप नहीं है परमार्थसे और भेद किया गया है, इतना ही उपचारमात्रपना है, पर पर्यायार्थिकनयने उस ही वस्तुका गुण अथवा पर्याय को बताया है, इस कारण यथार्थ है यह।

व्यवहरणं व्यवहारः स्यादिति शब्दार्थतो न परमार्थः।
स यथा गुणगुणिनोरिह सदभेदे भेदकरणं स्यात् ॥५२२॥

व्यवहारनयका स्वरूप—व्यवहरण करनेसे अर्थात् किसी वस्तुमें भेद करने को व्यवहार कहते हैं। व्यवहारनय शब्द अर्थके आधारसे है अर्थात् वाक्य विवक्षाके आधारपर है, इसी कारण व्यवहारनय शब्दकी दृष्टिसे और अर्थकी दृष्टिसे दोनो ही प्रकारसे अपरमार्थ है। अर्थात् वास्तवमे व्यवहारनय वस्तुके यथार्थ स्वरूपको नहीं कहता है, इस कारण वह परमार्थभूत नहीं है। इसी बातको दृष्टान्तपूर्वक बतला रहे हैं कि देखिये! यद्यपि सत् अभिन्न है, उसके खण्ड नहीं होते सो अखण्ड होनेपर भी वहाँ जब प्रतिपादनका समझानेका प्रसङ्ग आता है तो और अधिक नहीं तो इतना भेद तो करना ही पड़ता है कि यह गुण है और यह गुणी है। यह सत् है, इसमे सत्त्व है, तो गुण गुणीका भेद करना इस नयका विषय है, पर उस वस्तुमे निरखा जाय तो

क्या वहाँ गुण गुणीका भेद पडा हुआ है ? क्या वहाँ दो आधार हैं ? जैसे घडेमे चने भरे हुए है तो चनोका स्वरूप चनोमें है, घडेका स्वरूप घडेमें है, भिन्न सत्ता लिए हुए हैं और फिर उनका सम्बन्ध बताया है कि ये चने इस घडेमें हैं। इस प्रकारसे गुण गुणीकी स्थिति नही है। वहाँ तो वह सर्व एक ही है। उसको व्यवहारमे, प्रतिपादनमे लानेके लिए गुण गुणीका भेद किया गया है। तो चूंकि भेद नहीं हैं और भेद बताया है बस इतनी यहाँ अयथार्थता है, पर इस दृष्टिसे देखा जाय कि ऐसा भेद करके भी वहा वस्तुको समझा गया है तब वह सत्य अर्थका ही प्रतिपादन करने वाला है। तो व्यवहारनय अखण्ड वस्तुमे भेद करता है इस कारणसे वह परमार्थ नहीं है।

साधारण गुण इति वा यदिवाऽसाधारणः सतस्तस्य।
भवति विवक्ष्यो हि यदा व्यवहारनयस्तदा श्रेयान् ॥५२३॥

गुणविवक्षामे व्यवहारनयकी श्रेयोरूपता व्यवहारनयके द्वारा अखण्ड वस्तुमे गुणका भेद किया गया है, तो वह गुण चाहे सामान्य गुण हो अथवा असाधारण गुण हो, जिस समय जो विवक्षित होता है उस समय उसे व्यवहारनयका यथार्थ विषय जानना चाहिए, अर्थात् विवक्षित गुण ही वहाँ गुण गुणीमे भेद सिद्ध करता है। यो यह व्यवहारनयका विषय है। इस व्यवहारनयने दो पदार्थोंको विषय नही किया या किसी पदार्थका किसी पदार्थमें प्रभाव उपचरित नही किया, किन्तु एक ही वस्तुमे जो कि सहज अखण्ड है उसमे भेद करके एक प्रतिबोधका मार्ग बताया है, इसी कारण व्यवहारनय प्रयोजनरहित नही है। समस्त धर्ममार्गका उत्तरदायी यह व्यवहारनयके प्रसादसे ही सर्व प्रतिबोध और प्रवृत्ति हुआ करती है, फिर भी अपरमार्थता इसकी यो कही गयी है कि वस्तु अपने मूल अस्तित्वमे भेदरूप नही है। भेदरूप न हुए वस्तुको भेदरूप बतानेके कारण इस व्यवहारनयको परमार्थ नही कहा गया। ऐसे प्रसङ्गमे ऐसी शङ्का होना प्राकृतिक है कि जब व्यवहारनय वस्तुमे भेद सिद्ध करता है और वस्तु भेदरूप है नहीं, सो जो व्यवहारनयका विषय है वह उसका यथार्थ स्वरूप नही है। तो जब व्यवहारनयने यथार्थ स्वरूपका प्रतिपादन नही किया तो व्यवहारनयका वर्णन ही क्यो किया जाता है ? क्योकि इस स्थितिमें व्यवहार नयका मानना निष्फल है, क्योंकि वस्तु स्वरूपको तो व्यवहारनयने कहा नही, कहा और ही रूप। तो अन्य अन्य रूप कहा जानेसे क्या प्रयोजन सिद्ध होगा ? ऐसी शका होना एक स्वाभाविक है। इस शङ्काका निवारण करनेके लिए अब समाधान देते हैं।

फलमास्तिक्यमतिः स्यादनन्तधर्मैकधर्मिणस्तस्य।
गुणसद्भावे नियमाद् द्रव्यास्तित्वस्य सुप्रतीतत्वात् ॥ ५२४ ॥

व्यवहारनयके प्रयोगका प्रयोजन व फल—व्यवहारनयका फल पदार्थोंमें आस्तिक्य बुद्धिका होता है। पदार्थ जैसे अभेद अखण्डरूप हैं उनकी समझ कैसे बने? पदार्थ है, यह बुद्धि भी कैसे आये? उन पदार्थोंका अस्तित्व समझाने वाला तो यह व्यवहार नय है। तो गुणभेद करके जो उनका असली स्वरूप है उस स्वरूपको बना करके पदार्थोंके अस्तित्वकी श्रद्धा कराता है। पदार्थ अभेद है, अनन्त गुणोंका पिण्ड है, यह सब बात व्यवहारनयके द्वारा ही समझमें आई है। व्यवहारन से वस्तु ', अमुक प्रकारसे है यह बात जान जानेके कारण व्यवहारनयका बहुत बड़ा प्रयोजन सिद्ध होता है, इससे आस्तिक्यकी बुद्धि प्रकट होती है। जैसे एक जीवद्रव्यको ही ले लीजिए लोग इस जीवद्रव्यको किस तरह पहिचान पाते हैं? जब जीव द्रव्यकी कुछ कला, गुण, स्वरूप, स्वभाव कुछ भी बात दृष्टिमें लेते हैं तब ही तो जीव द्रव्यके स्वरूप तक पहुच बनती है। तो कभी जीव द्रव्यके ज्ञानगुणको निरखा जाता है, कभी दर्शन, चारित्र, आनन्द आदिक गुण देखे जाते हैं, तो इन गुणोंकी विवक्षा होनेपर अथवा इन गुणोंका परिचयके माध्यमसे यह बात ध्यानमें आती है कि जीव ऐसे अनन्त गुणोंका पुञ्ज है। और, तब यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि ये सब जीव के ही खास गुण हैं। ज्ञान, दर्शन, चारित्र, आनन्द, सम्यक्त्व आदि ये सभी जीवद्रव्य साधारण गुण हैं, यह भी तो व्यवहारनयके प्रयोगसे समझ पाया है। पदार्थोंमें सामान्य गुण है, विशेष गुण है आदिक विवरण किए बिना पदार्थका स्वरूप तो नहीं जाना जा सकता। तो व्यवहारनयसे पदार्थोंका स्वरूप समझा गया उनका अस्तित्व जाना गया अतएव आस्तिक्यबुद्धि उत्पन्न करनेका श्रेय व्यवहारनयको है। जब गुण गुणी सामान्य विशेष गुण आदिकका परिचय होता है तब पदार्थका अस्तित्व श्रद्धामें आता है। तो व्यवहारनयके माने बिना हितका मार्ग नहीं चल सकता है, आस्तिक्य बुद्धि जीवोंके नहीं बन पाती है। इस कारणसे व्यवहारनय प्रयोजनवान है, फिर भी व्यवहारनयको जो उपचरित कहा गया है वह केवल इस ही दृष्टिसे कि पदार्थ तो अभिन्न अखण्ड है और उसमें यह भेद दर्शाया जा रहा है फिर भी दिखाये गए भेदके द्वारा ही उस अखण्ड वस्तुको समझ पाते हैं। इस कारणसे व्यवहारनय प्रयोजनवान है और निश्चयनयकी अपेक्षा रखनेसे यथार्थ है, क्योंकि भेद करके भी प्रयोजन तो यही रहा कि अभेद वस्तुका परिज्ञान हो जाये। तो अभेद वस्तु निश्चय नयका विषय है। उसकी ओर पहुंचनेका व्यवहारनयका लक्ष्य है। अतएव यह व्यवहारनय यथार्थ है। यदि यह निरपेक्ष बन जाये, निश्चयनयके उद्देश्यकी बात न रखी जाये तो यह मिथ्या हो जाता है।

व्यवहारनयो द्वेधा सद्भूतस्त्वथ भवेदसद्भूतः।

सद्भूतस्तद्गुण इति व्यवहारस्तत्प्रवृत्तिमात्रत्वात्॥ ५२५॥

व्यवहारनयके भेदोमे सद्भूत व्यवहारनयका निर्देश व्यवहारनयके दो प्रकार होते हैं एक सद्भूत व्यवहारनय दूसरा असद्भूत व्यवहारनय। सद्भूत का अर्थ है--सत्मे होने वाले गुण अर्थात् वस्तुके गुणका नाम है सद्भूत और उनकी वृत्तिका नाम है व्यवहार अर्थात् पदार्थमे रहने वाले गुणोका प्रतिपादन करना, परिज्ञान करना उसका नाम है सद्भूत व्यवहारनय। वस्तु स्वय अपने आपमे एक निज अखण्ड रूप है। उस द्रव्यके गुण जानकर उसी द्रव्यमे बताना इस तरह उस द्रव्यमे गुणोकी विवक्षा करनेपर जो गुणोकी ख्याति की जाती है उसका नाम है सद्भूत व्यवहारनय। यह व्यवहारनय यथार्थ है क्योकि इस नयने वस्तुके असाधारण गुणोका विवेचन किया। जीवमे ज्ञान, दर्शन चारित्र सुख श्रद्धा आदिक गुण हैं। इस प्रकारका जो एक अखण्ड आत्मामे गुणोका प्रकाशन किया जिस उपाय से लोग उस आत्मस्वरूपको समझ सकेंगे इस उपायका नाम है सद्भूत व्यवहारनय, और, इस उपायके द्वारा अखण्ड वस्तुतत्त्वका प्रकाश मिला इस कारण यथार्थ है। पर यह सद्भूत व्यवहारनय यो कहलाता है अथवा इसमे उपचारपना इस कारणसे है कि यह अखण्ड वस्तुमे गुण गुणीका भेद करता है। वस्तुत. गुण गुणीसे भिन्न नही है फिर भी कथनमे जो गुण भेद आ रहा है उनने व्यवहारकी वजहसे इस व्यवहारको अयथार्थ कहते हैं। तो व्यवहारनयके इन दो प्रकारोमे यह सद्भूत व्यवहारनय एक विशुद्ध व्यवहार है और यह यथार्थ वस्तुस्वरूपके निकटका व्यवहार है।

अत्र निदानं च यथा सदसाधारणगुणो विवक्ष्यः स्यात्।
अविवक्षितोऽथवापि च सत्साधारणगुणो न चान्यतरात्॥५२६

सद्भूत व्यवहारनयकी प्रवृत्तिका निदान—सद्भूत व्यवहार नयकी प्रवृत्तिमे वस्तुके असाधारण गुणका प्रकाश हुआ है। इस कारण यह सद्भूत व्यवहारनय यथार्थ है और वस्तुस्वरूपके निकट पहुँचानेमे बलवान है। जैसे जीवमें ज्ञान गुण है, दर्शन गुण है आदिक व्यवहार तो सद्भूत व्यवहारनयसे हो रहे हैं ये असाधारण गुण ही बताये गए, साधारण गुणोसे सद्भूत व्यवहारनय नही बनता क्योकि साधारण गुण सबमे साधारण है उससे किसी विशिष्ट पदार्थकी प्रवृत्ति कसे बन सकेगी? तो पदार्थके असाधारण गुण ही इस नयके द्वारा विवक्षित किए गए इस कारण सद्भूत व्यवहारनय यथार्थ है और परमार्थ तत्त्वका प्रतिपादक है इस नयमे साधारण गुण विवक्षित नही होते और ऐसा भी नही है कि इस नयके द्वारा कभी साधारण गुण विवक्षित होता, कभी कोई असाधारण गुण विवक्षित होता, किन्तु वस्तुकी अर्थक्रिया जिन गुणोके सद्भावसे मानी गई है जिससे कि पदार्थ अपनी कोई विशिष्ट अर्थक्रिया करदे उन गुणोमेसे किसी गुणकी विवक्षा की जाती है। तात्पर्य यह है कि सद्भूत व्यवहारनय साधारण गुणोको गौण रखकर वस्तुके विशेप गुणो

का ही विवेचन करता है इस कारण अवान्तर सद्भूत, परमार्थ सद्भूत वस्तुके ही गुणोका व्यवहार इस नयने किया, इसी कारण यह सद्भूत व्यवहारनय यथार्थ कहलाता है। यहाँ एक यह जिज्ञासा हो सकती है कि सद्भूत व्यवहारनयके प्रयोगसे कौन सा प्रयोजन इस साधकका सिद्ध होता है जिससे कि कोई साधक सद्भूत व्यवहारनयका प्रयोग करके आत्महितकी दिशा प्राप्त करे। उस ही प्रयोजनको अब अगली गाथामें बताते हैं।

अस्यावगमे फलमिति तदितरवस्तुनि निषेधबुद्धिः स्यात्।
इतरविभिन्नो नय इति भेदाभिव्यञ्जको न नयः॥ ५२७॥

सद्भूतव्यवहारनयके ज्ञानका प्रभाव व फल सद्भूत व्यवहारनय का विषय जाननेमें अथवा सद्भूत व्यवहारनयकी प्रक्रियामें यह फल प्राप्त होता है कि इतर वस्तुमें निषेध बुद्धि हो जाती है और यह व्यवहार भेदविज्ञानका प्रवल साधक हो जाता है। जैसे सद्भूत व्यवहारनयसे यह समझा कि जीवमें ज्ञान गुण है दर्शन गुण है आदिक, तो इस अवगममे यह बात भरी हुई है कि जिसमे ज्ञान गुण नहीं, दर्शन गुण नहीं वह जीव नही है। तो इतर पदार्थोंसे विवक्षित पदार्थ जुदे ज्ञानमें आये, इसमे यह सद्भूत व्यवहारनय प्रवल साधक बन रहा है। तो सद्भूत व्यवहारनयकी समझका प्रयोजन यह है कि इस समझमे एक पदार्थमे दूसरे पदार्थके निषेधकी बुद्धि बन जाती है। विवक्षित पदार्थ अन्य किसी परपदार्थमे नही है और अन्य सर्वपर पदार्थ इस विवक्षित पदार्थमे नही हैं। एक पदार्थमे दूसरा पदार्थ बिल्कुल जुदा प्रतीत होने लगेगा, यह सब सद्भूत व्यवहारनयके प्रयोगका फल है, इसमे पदार्थोंकी विविक्तताकी प्रतीति हो जाती है। सम्यक्त्वके लिए जो एक प्रबल साधन है, वस्तु स्वरूप को परखकर अन्य वस्तुओंसे निज वस्तुको भिन्न समझ लेना इस प्रयोजनकी पुष्टि यह सदभूत व्यवहारनय करा देता है। तो सदभूत व्यवहारनय एकसे दूसरेको भिन्न जता देनेमे कारण है, पर एक ही पदार्थमें भिन्नताकी सूचना नही करता। सदभूत व्यवहारनय वस्तुके विशेष गुणोका ही तो विवेचन करता है। वस्तुमे जो स्वरूप पाया जा रहा है वह एक अखण्ड है, पर समझनेके लिए उसकी कलाका उसके परिणमनोंको जानकर उनकी शक्तियोको बताया यही तो सदभूत व्यवहारनयका अर्थ है। तो जब सदभूत व्यवहारनयने किसी वस्तुके विशेषगुणोंका विवेचन किया तो उससे यह ज्ञात हो ही गया कि यह वस्तु अपने इन गुणोंमे तन्मय है और इन गुणोंमे विपरीत गुण वाले अन्य सर्व पदार्थोंसे भिन्न है। जैसे इस नयके द्वारा जब यह विवक्षित हुआ कि जीवका ज्ञान गुण है तो इससे यह भी तो सिद्ध हो गया कि इसमें अन्य जो पुद्गल आदिक द्रव्य हैं उनसे यह जीव भिन्न है, क्योंकि यहाँ ज्ञान गुण है, पुद्गल आदिकमें ज्ञानगुण नहीं है। तो इस तरह जो एक मुख्य प्रयोजन है, भेद विज्ञानकी साधना है

उसकी सिद्धि इस सदभूत व्यवहारनयके प्रयोगसे हुई है ।

अस्तमितसर्वसङ्करदोषं क्षतसर्वशून्यदोषं वा ।
अणुरिव वस्तुसमस्तं ज्ञानं भवतीत्यनन्यशरणमिदम् ॥ ५२८ ॥

सद्भूतव्यवहारनयकी तत्त्वदर्शकता—सदभूत व्यवहारनयसे यद्यपि जाना यह गया कि इस सत् वस्तुमे ये गुण हैं, लेकिन वहाँ उस वस्तुका यथार्थ ही तो परिज्ञान हुआ है और ऐसा पुष्ट परिज्ञान हुआ है कि जहाँ कोई संकर दोष नही आता । जैसे सदभूत व्यवहारनयसे जीवका ज्ञान गुण जाना तो यह ही तो वहाँ बात सिद्ध हुई कि ज्ञानगुणके रूपसे जीव सत् है, अन्य अर्थात् ज्ञानसे भिन्न रूपादिक अज्ञानभावकी दृष्टिमे असत् हैं । ज्ञानसे भी जीव सत् है और सत् रूप आदिक गुणोसे भी सत् है, ऐसी संकरता सदभूत व्यवहारनयने दूर कर दी है । तो यह सदभूत व्यवहारनय उस परमार्थ तत्त्वके निकट ले जानेमे कितना प्रबल साधक है । इस तथ्यको प्रयोग करने वाले साधक स्वयं अनुभव कर लेते हैं । सदभूत व्यवहारनय संकर दोषसे रहित है । वस्तुके यथार्थ गुणकी दृष्टि कराता है और सदभूत व्यवहारनयके प्रसादसे ही शून्यताका निराकरण होता है । जीव है, ज्ञानमय है आदिक रूपसे जीवके अस्तित्वकी प्रतीति कराता है और नास्तिक अथवा शून्यताका निराकरण करता है यह सब सदभूत व्यवहारनयका प्रसाद है । इस नयके प्रसादसे सभी वस्तुयें अपने अपने उन गुणो मे तन्मय अखण्ड प्रतीत हो जाती हैं । सदभूत व्यवहारनयके द्वारा जब वस्तु अपने अपने विशेष गुणोसे तन्मय अथवा युक्त जचने लगता है तो वहाँ संकर दोष नही आता । गुणोका परिज्ञान तो होता ही है. इस कारण शून्यता और अभावके दोष भी दूर हो जाते हैं । और सदभूत व्यवहारकी पद्धति ऐसी विशुद्ध पद्धति है कि जिससे कथनमे गुणोका भेद आये लेकिन गुणोको समझकर इस समझने वालेने गुणोमे तन्मय वस्तुको समझा । इस तरह इस नयके ही प्रसादसे वह वस्तु अखण्ड भी प्रतीत हो जाती है । जब इसका इतना प्रताप है तो इसके बोधसे वस्तु तन्मय है, निज स्वरूप ही उसको शरण है, यह सब भान भी होने लगता है । यो निश्चय तत्त्वके प्रकाश करनेमे सदभूत व्यवहारनय अति निकटतम व्यवहार है ।

अपि चाऽसद्भूतादिव्यवहारान्तो नयश्च भवति यथा ।
अन्यद्रव्यस्य गुणाः सञ्जायन्ते बलात्तदन्यत्र ॥ ५२९ ॥

असद्भूतव्यवहारनयका स्वरूप—अब असदभूत व्यवहारनयका स्वरूप बताते हैं । असदभूत व्यवहारमे अ, सत्, भूत, और व्यवहार ऐसे चार शब्द पडे हुए हैं, जिससे यह अर्थ निकलता है कि जो सत्मे स्वयं अपने स्वरूपसे नही हैं ऐसी होनेवाली बातोका उस सत्मे प्रतिपादन करना तो असदभूत व्यवहार है । जिसका स्पष्ट अर्थ

यह हुआ कि दूसरे द्रव्यके गुणोंका बलपूर्वक दूसरे द्रव्यमे संयोग करना, मिलाना, प्रतिपादन करना ऐसे आरोपभरे व्यवहारको असदभूत व्यवहारनय कहते हैं। असदभूत व्यवहारकी दो विधियाँ हैं एक तो यह कि परनिमित्तसे होने वाले भावोको उस वस्तुके भाव बताना जिस वस्तुमे हुए हैं, एक तो यह प्रकार है इसमे असदभूतता यह पड़ी हुई है कि वह भाव उस वस्तुमे स्वरूपत नही है, सहजसिद्ध भाव नही है, फिर भी उन परिणतियोको उस वस्तुकी कहना यह असदभूत व्यवहार है। दूसरा प्रकार यह है कि जिस निमित्तसे विभाव उत्पन्न हुए हैं उस निमित्तमे रहने वाले गुणोका भी उस दूसरे द्रव्यमे हुए भावोमे निष्पत्ति बताना अर्थात् दूसरे द्रव्यके गुणोका बलपूर्वक दूसरे द्रव्यमे आरोप करना इसको असदभूत व्यवहारनय कहते हैं। असदभूत व्यवहारनयके लक्षणमे दोनो प्रकारकी विधियाँ आ जाती हैं। दूसरे द्रव्यका गुण जो आरोपित किया गया है वह गुण भी असदभूत है, उसके प्रतिपादनको असदभूत व्यवहारनय कहते हैं। इसी प्रकार दूसरे द्रव्यके निमित्तसे जो भाव हुए हैं वे विभाव उस परिणममान पदार्थ में सहज नहीं हुए हैं वे मेरे स्वरूप नहीं हैं। स्वरूप न होकर भी उस वस्तुके बताये जारहे हैं, इस कारण वे भी असदभूत व्यवहार कहलाते हैं, अब इस असदभूत व्यवहारनयके दृष्टान्तमे दोनो ही विधियोका समावेश करते हुए बताते हैं और ऐसा दृष्टान्त कहते हैं जिस दृष्टान्तमे अपने आपके सम्बन्धमें अनुभवपूर्ण शिक्षा प्राप्त हो। उस ही दृष्टान्तका अब ग्रन्थका वर्णन करते हैं।

स यथा वर्णादिमतो मूर्तद्रव्यस्य कर्म किल मूर्तम्।
तत्संयोगत्वादिह मूर्ताः क्रोधादयोपि जीवभवाः ॥ ५३० ॥

असद्भूतव्यवहारनयका उदाहरण—जिसमे रूप रस, गध, स्पर्श होता है उसे वर्णादिमान कहते हैं। जो वर्णादिमान होता है उसको मूर्त कहते हैं। जैसे जगत मे दिखने वाले ये पदार्थ मूर्त पुद्गल द्रव्य कहलाते हैं इसी प्रकार सूक्ष्म प्रकारके कारण स्कध हैं वे भी वर्णादिमान हैं अतएव मूर्त हैं। उन कार्माण वर्गणाओमे जीवके विभावका निमित्त पाकर कर्मपना आ जाता है। यो उस मूर्त द्रव्य कार्माण स्कधमें जो कर्मपना आया सो यह कर्म भी मूर्त कहलाता है। अब इस मूर्त कर्मके सम्बन्धसे अर्थात् इस मूर्त कर्म प्रकृतियोका उदय आता है, उस उदयका निमित्त पाकर जीवमे क्रोधादिक भाव बनते हैं। तो चूंकि वर्णादिमान कर्मके उदयके सम्बन्धसे ये क्रोधादिक भाव बने अतएव इन क्रोधादिक भावोको भी मूर्त कहना यह असदभूत व्यवहार है और इन क्रोधादिक भावोको जीवके कहना यह भी असदभूत व्यवहार है। यहाँ असदभूत व्यवहारकी दो विधियाँ आयी हैं। क्रोधादिक भावोको जीवके बताना यह भी असदभूत व्यवहार है क्योकि ये क्रोधादिक भाव जीवमे सहजसिद्ध भाव नही हैं, जीवके स्वरूप नही हैं, फिर भी जीवके बताये जा रहे हैं। यह असदभूत व्यवहारपना है। अब

उन क्रोधादिक भावोको मूर्त बना देना जीवके परिणमन होनेके कारण क्रोधादिक भाव मूर्त हैं नही, वे तो एक भाव हैं, रूप, रस गंध, स्पर्शसे रहित है लेकिन पुदगल सम्बन्धमें प्रकृतिके उदयके निमित्तसे ये क्रोधादिक भाव हुए है। अतः इन्हें मूर्त कह देना यह भी असदभूत व्यवहार है। अनेक ग्रन्थकारोने भी यह बताया है कि क्रोधादिक भाव शुद्ध आत्माके नही है किन्तु हुए हैं आत्मामे, अतएव अशुद्ध निश्चय-नयसे ये जीवके कहे जाते है। तो चूकि अशुद्धताका वर्णन है और अशुद्धता जीवका स्वरूप नहीं है अतएव यह असदभूत कहलाया। दूसरी दृष्टिसे ये क्रोधादिक भाव पुद-गल प्रकृतिके उदयके निमित्तसे हुए हैं और ये लोगोको वर्णादिक रूपसे नही दिखते फिर भी व्यक्त रूपसे विदित हो जाते है। अतएव इनको भी मूर्तरूप कह देना यह असदभूत व्यवहार है।

कारणमन्तर्लीना द्रव्यस्य विभावभाव शक्तिः स्यात्।
सा भवति सहजसिद्धा केवलमिह जीवपुद्गलयोः ॥५३१॥

असद्भूतव्यवहारनयकी प्रवृत्तिमे कारण अब इस गाथामे यह बतला रहे है कि ऐसे असदभूत व्यवहारनयकी प्रवृत्ति क्यो हुआ करती है ? इस असदभूत व्यवहारनयकी प्रवृत्तिका कारण अन्तर्लीन द्रव्यकी विभावभाव शक्ति है। जीव और पुदगलमे वैभाविकी शक्ति होती है। और, विभावरूप परिणम सकना इस शक्तिका अर्थ है। जिस शक्तिके कारण जीव और पुद्गल विभावरूप परिणम जाया करते हैं ऐसी शक्तिका नाम है वैभाविकी शक्ति। यह विभावकी शक्ति जीव और पुदगलमे क्यो आयी ? अन्य द्रव्योमे क्यो नही बसी हुई हैं, इसका उत्तर कुछ नहीं हो सकता। केवल एक स्वभाव ही उत्तर होगा। चाहे ऐसा प्रसङ्ग उठाकर भी कहा जाय कि चूंकि कर्मोदयका निमित्त पाकर जीवमे विरुद्ध परिणमन हो जाते हैं इस कारण वैभा-विकी शक्ति आयी है तो यह कारण ज्ञापक कारण होगा। कारक कारण नही है। वहाँ भी यह पूछा जा सकता कि कर्मके सयोगमे जीवमे ही क्यो विभावपरिणमन हुए? जहाँ कर्म है वहाँ छहो द्रव्य मोजूद हैं, फिर अन्य द्रव्योको छोडकर जीव ही विभावरूप क्यो परिणमता ? तब अन्तमे यह उत्तर देना बनेगा कि ऐसा ही स्वभाव है। इसी प्रकार पुदगलमे भी प्रश्नोत्तर करके यही निर्णय कि पुदगलमे भी वैभाविकी शक्ति उसके स्वभावसे ही है। तब यह स्वीकार करना होगा कि जीव और पुदगलमे वैभावि की शक्ति स्वभावतः है। अथवा यो कह लीजिए कि जीवमे भावशक्ति तो है ही, पर जीव विभावरूप भी परिणम जाता है। तो विभावरूप हो सकनेका सामर्थ्य बतानेके लिए उस भावशक्तिको ही विशेषित करके विभावशक्ति नामसे प्रसिद्ध किया गया है। तब यह तात्पर्य निकला कि अपने द्रव्यके स्वभावरूपसे परिणमनेमे तो विभावशक्तिका स्वभाव परिणमन कहलायगा और विभावरूप परिणमनेकी शक्तिमे विभाव परिणमन

कहलायगा'। सो जीव और पुद्गल इन दो द्रव्योमें वैभाविकी शक्ति है और यह इन दोनों द्रव्योमे स्वभावत. है। उस शक्तिका परनिमित्तसे वैभाविक परिणमन होता है। क्रोधादिक कषाय प्रकृतियोके निमित्तसे जीवकी वैभाविकी शक्तिका क्रोधादिक वैभाविक परिणमन हो जाता है। जब पर निमित्त नहीं रहता तो उस ही शक्तिका स्वाभाविक परिणमन होता है। तो चूंकि उसको वै ाविक शक्तिके विभाव परिणमनसे ये क्रोधादिक भाव बने सो ये असदभूत व्यवहारनयके विषय हैं। तो यो असदभूत व्यवहारनय की प्रवृत्तिमे हेतु वैभाविकी शक्ति हुई है अब यहाँ यह जिज्ञासा हो सकती है कि असदभूत व्यवहारसे जो कुछ समझा अथवा समझाया गया इस प्रयासका शिक्षाप्रद फल क्या है? उस फलको अब अगली गाथामें बताते है।

फलमागन्तुकभावादुपाधिमात्रं विहाय यावदिह।
शेषस्तच्छुद्धगुणः स्यादिति मत्वा सुदृष्टिरिह कश्चित् ॥५३२॥

असद्भूतव्यवहारनयका फल-- उक्त गाथामें जो असद्भूत व्यवहारनयका उदाहरण दिया है उस उदाहरणसे यह स्पष्ट है कि जीवमे जो क्रोधादिक भाव आये हुए हैं वे आगन्तुक भाव हैं अर्थात् कर्मोदयका निमित्त पाकर आये हुए भाव हैं जीवमे जीवके स्वभावसे ही पर निमित्त बिना स्वय स्वतः सहज आये हुए नहीं हैं ना ये क्रोधादिक भाव आगन्तुक हैं अर्थात् उपाधिका निमित्त पाकर उत्पन्न हुए हैं, ऐसी समझ होनेके बाद जो समझ असदभूत व्यवहारके प्रतापसे आई हुई है ऐसी समझ होनेके बाद जो समझ असदभूत व्यवहारके प्रतापसे आई हुई है, ऐसी समझ कर लेने वाला कोई विवेकी पुरुष यह ही करेगा कि वहाँ उपाधिमात्रको छोडकर निरखेगा कि फिर इस जीवकी क्या स्थिति होती है। ये क्रोधादिक भाव जो आगन्तुक भाव हैं, स्वाभाविक नही हैं। तो ये भाव जब न रहे अथवा उपाधि दूर हुई तो ऐसी स्थितिमे शेष क्या रहता है? तो वह जीवका शुद्ध गुण रहता है। उस स्थितिमे जीवके ज्ञान दर्शन आदिक गुण स्वभावरूपसे परिणमने लगते हैं। तो जब दृष्टिमें यह बात समझी गई तब जीवके गुणोमेसे अब उस उपाधिको हटा दिया जो पर निमित्तसे हो रही थी, ये क्रोधादिक भाव उपाधि ही तो थे, तो उन उपाधिमात्रको दूर करनेसे अब चारित्र आदिक शुद्ध गुण प्रकट होते हैं, ऐसा प्रतीत होने लगता है और ऐसा समझकर अब इस विवेकीको जीवके स्वरूपकी पहिचान हो गई। तो उस स्वरूपको पहिचानकर कोई पुरुष सम्यग्दृष्टि हो सकता है। तो ऐसे सम्यग्दर्शनके आविर्भावकी पात्रता उत्पन्न करना इस असदभूत व्यवहारनयका कार्य है। असदभूत व्यवहारनयका जो विषय है, वह अगीकार करने योग्य नहीं है। अतएव हेय है, किन्तु असदभूत व्यवहारनयसे जो परिचय प्राप्त होता है उस परिचयसे शिक्षा यह मिलती है कि उपाधिमात्र को छोडकर जीवमें शुद्ध, सहज भावका परिज्ञान करना है। इस दृष्टिसे असदभूत

व्यवहारनय भी बहुत उत्तम शिक्षा देने वाला नय है ।

अत्रापि च संदृष्टिः परगुणयोगाच्च पाण्डुरः कनकः ।
हित्वा परगुणयोगं स एव शुद्धोऽनुभूयते कैश्चित् ॥ ५३३ ॥

असदभूतव्यवहारनयके फलका उदाहरणपूर्वक स्पष्टीकरण—असदभूत व्यवहारनय इस बातकी ओर संकेत देता है कि यह वर्तमान भाव आगंतुक भावसे आया है और उपाधिमात्र है इसको छोडकर जो कुछ शेष रहता है वह शुद्ध गुण रहता है । इस फलकी सिद्धि असदभूत व्यवहारनयके शुद्ध परिज्ञानसे होती है । इसी विषयमे यह दृष्टान्त दिया गया है कि जैसे सोना दूसरे पदार्थके गुणके सम्बन्धके कारण (चाँदीके सम्बन्धके कारण) कुछ सफेदीको लिए हुए पीला हो जाता है, हो गया पीला सफेदीको लिए हुए किन्तु वह परिणमन आगन्तुक भाव है । किसी दूसरे द्रव्यका मेल पाकर उत्पन्न हुआ है । यदि उस आगंतुक भावको दूर कर दिया जाय, जो इसका द्वितीय पदार्थ मिला है उस चाँदी अंशको दूर कर दिया जाय तो वही सोना जो कुछ शेष बचा है वह शुद्ध और कान्तिमान यथावत पीला हो जाता है । इसी प्रकार जो ऊपर दृष्टान्त दिया गया है कि वैभाविक गुण एक उपाधिमात्र है, वह कर्मोदयके सन्निधानमे हुआ है । यदि वह उपाधि दूर हो जाय या ऐसा विशिष्ट व्यवहार बनाया जाय कि वह उपाधि अनुभवमे न रहे तो ऐसी स्थितिमे ज्ञान स्वरूप अनुभवमे आ जाता है । जैसा कि आत्माका शुद्ध स्वभाव है, गुण है वही शेष रहकर अनुभवमे आता है । इस महान उपकारका श्रेय इस असदभूत व्यवहारनयका है । असदभूत व्यवहारनयका जो विषय है वह विषय तो हेय है, किन्तु असदभूत व्यवहारनयके परिज्ञानकी जो पद्धति है उस पद्धतिसे स्वभावदृष्टिकी शिक्षा मिलती है । यो असदभूत व्यवहारनयका प्रयोजन शिवमार्गमे लगानेका है ।

सद्भूतव्यवहारोऽनुपचरितोस्ति च तथोपचरितश्च ।
अपि चाऽसद्भूतः सोनुपचरितोस्ति च तथोपचरितश्च ॥५३४॥

सद्भूत व असद्भूत व्यवहारनयके प्रकार—अब व्यवहारनयके भेद जो ऊपर प्रसङ्गमे दो बताये गये हैं एक सदभूत व्यवहार, दूसरा असदभूत व्यवहार ये दोनो ही व्यवहार दो दो प्रकारके होते हैं । वे दो प्रकार हैं अनुपचरित और उपचरित अर्थात् अनुपचरित सदभूत व्यवहारनय और उपचरित सदभूत व्यवहारनयके भेदसे सदभूत व्यवहारनय दो प्रकारका है । इसी प्रकार अनुपचरित असदभूत व्यवहारनय और उपचरित असदभूत व्यवहारनयके भेदसे असदभूत व्यवहारनय दो प्रकारका है । इसमे उपचरितपना कैसे आया और कोई उपचरित कैसे हुआ करता है इस ? बातका

प्रकाश जब इन दोनो प्रकारोके स्वरूपका वर्णन होगा उसमे स्वय स्पष्ट होता चला जायगा। फिर भी थोडा सक्षेपमे यह समझ लेना चाहिए कि किसी वस्तुका आलंबन करके परिज्ञान होगा तो वह उपचरित कहलायगा और जो अन्य वस्तुका आलम्बन बिना स्वय ही बात होगी तो वह अनुपचरित कहलायगा। यह निस्पत्तिकी बात नहीं कह रहे हैं, किन्तु ज्ञप्तिकी बात कह रहे हैं। जिसका परिज्ञान किसी अन्य द्रव्यके आलम्बनसे होगा वह तो है उपचरित पद्धतिमे, जिसका परिज्ञान अन्य द्रव्यका आलम्बन किए बिना हो रहा हो वह है अनुपचरित पद्धति। इस तरह व्यवहारनय चार प्रकारका हो गया। एक अनुपचरित सदभूद व्यवहारनय, दूसरा उपचरित सद्भूत व्यवहारनय, तीसरा अनुपचरित असदभूत व्यवहारनय और चौथा उपचरित असद्भूत व्यवहारनय। इन चार व्यवहारोमेसे प्रथम कहे गये उपचरित सदभूत व्यवहारनयका स्वरूप बताते हैं।

स्यादादिमो यथान्तर्लीना या शक्तिरस्ति यस्य सतः।
तत्तत्सामान्यतया निरूप्यते चेद्विशेषनिरपेक्षम् ॥ ५३५ ॥

अनुपचरित सद्भूतव्यवहारनयका स्वरूप जिस पदार्थके अन्दर जो शक्ति है जो शक्ति उस पदार्थमे अन्तर्लीन है उस शक्तिका जहा इस पद्धतिसे निरूपण होता है कि जहाँ किसी अन्य विशेषकी अपेक्षा नहीं होती, किन्तु सीधा सामान्यरूपसे निरूपित होता है तो इस पद्धतिको अनुपचरित सदभूत व्यवहारनय कहते हैं। सदभूत व्यवहारनयका अर्थ है कि सत् पदार्थमे जो स्वय हो उसका व्यवहार करना सो सदभूत व्यवहार है। यही सदभूत व्यवहार जब किसी अन्य तथ्यका आलम्बन लिए बिना सीधे सामान्य पद्धतिमे होता है तब अनुपचरित सदभूत व्यवहारनय कहलाता है। यह व्यवहारनय परमार्थभूत तत्त्वके परिज्ञानके लिए निकटतम पद्धति है। इस सम्बन्धमें दृष्टान्त भी बतला रहे हैं।

इदमत्रोदाहरणं ज्ञान जीवोपजीवि जीवगुणः।
ज्ञेयालम्बनकाले न तथा ज्ञेयोपजीवी स्यात् ॥ ५३६ ॥

अनुपचरितसद्भूतव्यवहारनयका उदाहरण—जैसे यह प्रतिपादन किया गया कि ज्ञान गुण जीवका अनुजीवी गुण है। जीवमें शाश्वत अनादि अनन्त रहता है। यद्यपि जितने भी ज्ञान होते हैं वे ज्ञान जानते ही तो हैं उनमे बाह्य पदार्थ विषय होते हैं। तो यो कह सकते कि प्रत्येक ज्ञानमे विकल्प आकार ग्रहण प्रतिभासमान होता है। ऐसी स्थितिमे यह भी कहा जा सकता कि ज्ञानका प्रकाश ज्ञानके अवलम्बन सहित हो रहा है। यहा अवलम्बनका अर्थ परतन्त्रतारूप नहीं है, किन्तु

किसी भी ज्ञानमे कोई बाह्य पदार्थ विषभूत होता ही है। यो ज्ञेयके अवलम्बनकाल मे ज्ञेयका यह गुण ज्ञान न बन जायगा। ज्ञानगुण जीवका ही गुण है। भले ही देखने मे ऐसा आता है कि ज्ञान इन दृश्यमान पदार्थोमे प्रकट हो रहा है अथवा ये दृश्यमान पदार्थ न हो तो ज्ञानका यह रूप कैसे बने? यो ज्ञानका आलम्बन जच रहा है खुण्डनाका लेकिन यह आलम्बन केवल विषय माना है। यहाँ जो ज्ञान बना वह ज्ञान जीवकी परिणतिमे बना। जीवका ही वह स्वभाव बना। यो ज्ञान बना, जीवका ही वह स्वरूप बना यो ज्ञान ज्ञेयका गुण न बनकर जीवका ही गुण है। किसी पदार्थको विषय करते समय यह न भूल जाना चाहिए कि ज्ञान जीवका अनुजीवी गुण है। तो इस पद्ध पद्धतिमे जब जीवका गुण ज्ञान बनाया जा रहा है तो सीधा सामान्य पद्धतिमे ही कहा गया, और इस नीतिको कहे तो अनुपचरित सद्भूतव्यवहार नय सद्भूत व्यवहार तो यो बन गया कि परमार्थसे तो आत्मा अखण्ड पदार्थ है फिर भी उसमें गुणका भेद किया। अतः सद्भूत व्यवहारनय हुआ लेकिन यह भेद व्यवहार गुण गुणीका कथन सीधे बिना परके आलम्बनके किया गया है। यहाँ कोई आलम्बन की बात नहीं कही गई है। अत इस पद्धतिको अनुपचरितसद्भूत व्यवहारनय कहते हैं। इसी विषयको एक उदाहरणपूर्वक स्पष्ट किया है।

घटसद्भावे हि यथा घटनिरपेक्षं चिदेव जीवगुणः।
अस्ति घटाभावेपि च घटनिरपेक्षं चिदेव जीवगुणः॥ ५३७॥

अनुपचरित सद्भूत व्यवहारनयके उदाहरणका स्पष्टीकरण— जैसे किसी पुरुषने घटविषयक ज्ञान किया तो वह ज्ञान घटके सद्भावमे हुआ, क्योकि घट को विषय कर रहा है, उस घट परिणमनमें घट समझा जा रहा है ऐसा घटाकार प्रतिभास होनेपर भी वह ज्ञान जीवका घट निरपेक्ष गुण है। जीवमे जो भी ज्ञान व्यक्त हुआ है वह घटकी अपेक्षा रखकर नही हुआ है। वह ज्ञान आत्माका उस समय का परिपूर्ण परिणमन है, उस ज्ञानका कर्ता, कर्म करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण ये सब इसमे गुणी हैं। ज्ञानको किसने किया? इस ज्ञानीने! इस ज्ञानीने अपने अभिन्न कर्मको ही किया। अपनी ही ज्ञान परिणति द्वारा किया, अपने ही जाननके लिए किया। और अपनी ही पूर्व पर्यायोसे चलकर इस पर्यायरूपमे ज्ञान किया। और ये सब परिणति अपनेमें ही हुई। तो इस ज्ञानका स्वरूप प्रमाण इसी अन्य पदार्थसे या प्रस्तुत उदाहरणमे घटसे नही हुआ है। उसे यो समझिये कि घटका अभाव होता ऐसी स्थितिमें नया ज्ञान कुछ अपनी सत्ता ही न रखता होगा? तो जैसे घटके अभावमे यह ज्ञान जीवका घट निरपेक्ष गुण है इसी प्रकार घटके सद्भावमे भी यह ज्ञान जीवका घट निरपेक्ष गुण है। भले ही उस समय घट विषय ज्ञानमे आया है लेकिन उस समय भी घटाकार हुआ वह ज्ञान ज्ञान ही है। घटका कुछ भी अंश वहाँ

है । घटको विषय कर लेने मात्रसे यह ज्ञान घट रूप नहीं हो जाता अथवा यह ज्ञान घटका गुण न बन जायगा । घटाकार होना तो इस ज्ञानका स्वभाव है और केवल घटाकार होता ही नही किन्तु जितने भी प्रमेय हैं सब हीका प्रतिभास होना यह ज्ञानका स्वरूप ही है । इस उदाहरणको स्पष्ट करनेके लिए एक दर्पणका भी दृष्टात समझिये । दर्पणमे सामने आये हुए पदार्थका प्रतिबिम्ब आ गया उस समय दर्पण उस पदार्थाकार हो गया । सभी लोग जानते हैं कि वह पदार्थ प्रतिबिम्बित है लेकिन दर्पणका उस रूप प्रतिबिम्बित हो जाना यह दर्पणका ही स्वभाव है दर्पणकी ही परिणति है । जैसे पदार्थका प्रतिबिम्ब पडा है कही दर्पण उस पदार्थरूप नही हो जाता । तो जैसे दर्पण प्रतिबिम्बित होनेपर भी अपने ही स्वरूपमे है, कहीं प्रतिबिम्ब वाले पदार्थरूप नही बन गया । जैसे कि उसका प्रतिबिम्ब न होनेपर भी दर्पण अपने रूप है, यो ही समझिये कि जैसे पदार्थाकार होनेके समयमे दर्पणमे उस पदार्थका कोई गुण नही आया या दर्पणके कोई गुण उस पदार्थमे नही पहुचे । इसी प्रकार ज्ञानमें कोई पदार्थ प्रतिभासित हो जाय, इतनेपर भी उस पदार्थरूप या उस पदार्थके गुणरूप यह ज्ञान नहीं बन जाता । ज्ञान तो अपने ज्ञानस्वरूप ही है । तो ज्ञान जीवका गुण है और वह अन्य निरपेक्ष है । इस पद्धतिसे समझा गया गुण गुणीका प्रकार अनुपचरितसद्भूतव्यवहारनयका विषय है ।

एतेन निरस्त यन्मतमेतत्सति घटे घटज्ञानम् ।
असति घटे न ज्ञान न घटज्ञान प्रमाणशून्यत्वात् ॥ ५३८ ॥

अनुपचरितसद्भूतव्यवहारनयके परिज्ञानसे दुर्मतिका निराकरण— अनुपचरित सद्भूतव्यवहारनयका जो दृष्टान्त दिया गया है कि ज्ञानगुण जीवका ही अनुजीवी गुण है । ज्ञेयका आलम्बन करके यद्यपि ज्ञानका विकास हो रहा है, ऐसी स्थितिमे भी वह ज्ञान घट निरपेक्ष जीव गुण है । इस उदाहरणमे यह बात व्यक्त की है कि घट पदार्थ विषयक ज्ञान भी हो रहा है, वहाँ भी वह ज्ञान जीवका गुण है । इस व्यवहारनयके विशुद्ध प्रयोगसे अनेक संताप दूर हो जाते हैं । जो लोग मानते हैं कि घटके होनेपर घटज्ञान होता है और घटके न होनेपर ज्ञान नहीं होता, यह ज्ञान घटसे ही उत्पन्न होता है और इस तरह वे ज्ञानको ही गुण सिद्ध कर देते हैं, ऐसा भ्रमपूर्ण सिद्धान्त स्वय निराकृत हो जाता है तब अनुपचरितसद्भूत व्यवहारनयकी ज्योति विदित होती है । क्षणिकवादी लोग पदार्थ ज्ञानमे पदार्थको ही कारण कहते हैं । जो भी ज्ञान उत्पन्न होता है वह पदार्थसे ही उत्पन्न होता है, इसका प्रमाण भी यह उपस्थित करते हैं कि पदार्थने यदि ज्ञान उत्पन्न न होता हो तो यह व्यवस्था कैसे बनाई जा सकती है कि यह ज्ञान घटका है, यह ज्ञान पटका है । इस ज्ञानने घटको ही जाना, यह व्यवस्था इसीसे ही बनती है कि जब वह ज्ञान घटमे उत्पन्न हुआ हो ।

तो यो पदार्थसे ही ज्ञान उत्पन्न होता है और तभी यह व्यवस्था बनती है कि इस ज्ञान ने अमुक पदार्थको जाना, इस ज्ञानने अमुकको जाना। यो पदार्थसे ज्ञानकी उत्पत्ति मानकर उस ज्ञानको पदार्थका ही गुण बताते हैं। परन्तु ऐसा सिद्धान्त सही नहीं हो सकता, क्योंकि घटज्ञानमें जो घटविषयक ज्ञान इस प्रकारका व्यवहार किया गया है वह अनुपचरित सद्भूत व्यवहारनयकी बात है। घटके कारण घटज्ञान नहीं हुआ, न घ से ज्ञानकी उत्पत्ति हुई। वह तो सद्भूतगुण है अर्थात् ज्ञानमय पदार्थमें स्वभावतः ऐसा गुण है कि अनेक पदार्थ विषयभूत होते जायें। ज्ञानका कारण पदार्थको माननेसे अनेक दूषण भी आते हैं। जैसे कहीं केशोंका पिण्ड पड़ा है अथवा कोई पुरुष अपना शरीर चादरसे ढके हुए सो रहा है केवल सिरका ऊपरी भाग खुला है तो ऐसी दशामें वह केशोंका पुञ्ज ऐसा विदित होता है जैसे वहाँ मच्छर मडरा रहे हों। तो ज्ञान तो हो गया कि ये मच्छर हैं लेकिन मच्छर हैं कहाँ? यदि परमार्थमें ज्ञानकी उत्पत्ति होती हो तो वहाँ कभी भ्रम न होना चाहिये। जो पदार्थ है उस पदार्थसे वैसा ही ज्ञान बनना चाहिये। फिर संशय, विपर्यय ज्ञान भी न बन सकेंगे। जब ज्ञानको जीव का गुण न मानकर ज्ञेय पदार्थका गुण मान लिया गया और यह स्वीकार कर लिया कि वह ज्ञान उस पदार्थसे उत्पन्न होता है तब तो प्रत्येक ज्ञान सही ही बोध करे। जो ज्ञान उत्पन्न हुआ है वह उस हीको समझ लेने फिर संशय, विपर्यय ज्ञान जो लोगोंको होते हैं वे कैसे हो सकेंगे? जो पदार्थ ही नहीं है उसका ज्ञान हो जाय इसको विपर्यय ज्ञान कहते हैं। तो जब पदार्थसे ज्ञानकी उत्पत्ति मानी जाय तो विपर्यय ज्ञान होनेका अवकाश क्यों रहना चाहिए? और भी सुनो! जैसे दीपक पदार्थोंका प्रकाशक है, परन्तु क्या यह कहा जा सकता है कि पदार्थोंसे दीपककी उत्पत्ति हुई है? तो जैसे पदार्थोंसे उत्पन्न न होकर भी दीपक पदार्थोंका प्रकाशक है इसी प्रकार पदार्थोंसे उत्पन्न न होकर भी ज्ञान पदार्थोंका जानने वाला होता है।

पदार्थोंको सविभाग जाननेका कारण—पदार्थोंसे ज्ञान उत्पन्न होता है, ऐसा माननेमें क्षणिकवादियोंका यह न्याय दिखाया गया था कि पदार्थोंसे उत्पन्न होनेके कारण ही यह व्यवस्था बनती है कि ज्ञान घटको जान रहा, यह ज्ञान चौकीको जान रहा। जो चौकीसे उत्पन्न हुआ है ज्ञान वह चौकीका ज्ञान है, जो घटसे उत्पन्न हुआ है ज्ञान वह घटका है, यह युक्ति सही नहीं है, क्योंकि ज्ञान अमुकको ही जान रहा है, यह व्यवस्था ज्ञानकी योग्यतापर है। ज्ञानावरण जैसा क्षयोपशम है उसके अनुसार ही यह व्यवस्था बनती है कि यह ज्ञान अमुकको जान रहा है। ज्ञानावरण कर्म उसे कहते हैं जो ज्ञानको न होने दे। ज्ञान होता है ज्ञेय विषयक। जितने पदार्थों का ज्ञान होता है उतना ज्ञान न हो तो ज्ञानावरण भी उतना ही हो जाता है। जैसे घट ज्ञानावरण, पटज्ञानावरण अनन्त ज्ञानावरण आदि। जिस जिस प्रकारके ज्ञाना-वरणका क्षयोपशम हो और उस ओर उपयोग हो, ऐसी स्थितिमें यह न्याय बनता है

कि यह ज्ञान इसके जानने वाला है। जिस जातिका क्षयोपशम होता है उस जातिका ही बोध होता है। यद्यपि यह बात भी है कि एक ही समयमे अनेक पदार्थ मौजूद हैं और अनेक पदार्थोंके ज्ञान विषयक क्षयोपशम भी है लेकिन केवल क्षयोपशमसे ही ज्ञान नही जगता, किन्तु वहाँ उपयोग भी चाहिए। लब्धि और उपयोग दोनोके कारणसे क्षयोपशम ज्ञान पदार्थोंका ज्ञान करता है। तो उपयोग भी तभी कार्यकारी बनता है जब कि तद्विषयक क्षयोपशम हो। तो यों पदार्थ व्यवस्थाके क्षयोपशमरूप योग्यता ही उपादान कारण है। पदार्थोंसे ज्ञानकी उत्पत्ति होती है यह बात युक्ति विरुद्ध है। इस तरह अनुपचरित सदभूत व्यवहारनयके दृष्टान्तसे यह स्पष्ट कर दिया गया कि ज्ञान जीवका अनुजीवी गुण है। यद्यपि वह ज्ञे को विषय करके बनता है फिर भी ज्ञेयके कारणसे ज्ञान नहीं है, और न वह ज्ञान ज्ञेयका गुण है, इस प्रकार ऐसे अनुपचरित सदभूतकी बात बताना सो अनुपचरित सदभूत व्यवहारनय है। अब यह बतलाते हैं कि अनुपचरित सदभूत व्यवहारनयके प्रयोगसे फल क्या प्राप्त होता है?

फलमास्तिक्यनिदानं सद्द्रव्ये वास्तवप्रतीतिः स्यात्।
भवति क्षणिकादिमते परमोपेक्षा यतो विनायासात् ॥५३६॥

अनुपचरित सद्भूत व्यवहारनयका फल—पदार्थमें प्रतीति उत्पन्न हो जाय बस यही अनुपचरित सदभूत व्यवहारनयके प्रयोगका फल है। इस नयके प्रसादसे जीवमें आस्तिक्य बुद्धि उत्पन्न होती है, क्योंकि सदभूत व्यवहारका अर्थ यह है कि पदार्थमे जो गुण मौजूद हो उसकी ही ख्यातिमे पदार्थको सम्बन्धित करना इसमें यह बात स्पष्ट होती है कि जिस पदार्थमें जो गुण है, जिसका जो स्वरूप है उस ही प्रकार उसका बोध करें तो उससे उस पदार्थके अस्तित्व विषयक श्रद्धा निर्मल हो जाती है। तो यों अनुपचरित सदभूत व्यवहारनय आस्तिक्य भावका कारण बनता है जो कि जीवके लिए श्रेयस्कर है। दूसरा फल यह है कि जो पदार्थसे विरुद्ध ज्ञानका पोषण करते हैं ऐसे दर्शनोसे स्वयं ही उपेक्षा बन जाती है। जैसे ज्ञानके विषयको क्षणिकवादियोंने माना कि ज्ञान पदार्थसे उत्पन्न होता है लेकिन जिस महापुरुषको सदभूत व्यवहारकी नीति आ गयी, पदार्थमें जो गुण है उस गुणको उस ही पदार्थसे सम्बंधित करना ऐसी नीतिमे यह कुमत अपने आप दूर हो जाता है कि पदार्थसे ज्ञानकी उत्पत्ति होती है। यो अनुपचरित सदभूत व्यवहारनयके दो फल हैं। एक तो यह कि आस्तिक्य बुद्धि उत्पन्न होती है। जिस पदार्थमे जो गुण है बिना विचार किए उस गुणको उस ही पदार्थका देखना यह विशुद्ध आस्तिक्यका कारण है और इसके विरुद्ध जो प्रतिपादन है वह मिथ्या है। उनका निराकरण भी इस नीतिसे हो जाता है। घट ज्ञान की अवस्थामे भी ज्ञान जीवका ही गुण है, घटका गुण नहीं है। वहाँ विषय घट पड़ा है, तो घट ज्ञान अवस्थामें भी ज्ञानको जीवका ही गुण जानना यही तो अनुपचरित

सदभूत व्यवहारनय है। सो ऐसा ज्ञान पदार्थकी यथार्थ प्रतीतिका कारण है ही। अतः इसके प्रसादसे जीवोंमें आस्तिक्य बुद्धि दृढ हो जाती है कि यह इस नय का फल है।

उपचरितः सद्भूतो व्यवहारः स्यान्नयो यथा नाम।
अविरुद्धं हेतुवशात्परतोप्युपचर्यते यथा स्वगुणः ॥५४०॥

उपचरित सद्भूत व्यवहारनयका स्वरूप—अब द्वितीय उपचरित सदभूत व्यवहारनयका स्वरूप बतला रहे हैं। जहाँ बात तो सदभूत ही कही जाय अर्थात् जिस पदार्थका जो गुण है वह उस पदार्थका ही बताया जाय, लेकिन किसी परका नाम लेकर उसका व्यवहार किया जाय तो उसे उपचरित सदभूत व्यवहारनय कहते हैं। इस व्यवहारनयमे अविरुद्ध उपचारकी बात हुआ करती है। सही उपचार होता लेकिन वस्तुका गुण वस्तुके अस्तित्व पर ही जीवित है। किसी परके कारण नही है। ऐसे स्वतंत्र गुणको भी किसी पर पदार्थके सम्बन्धसे प्रतिपादित करनेकी नीतिको उपचरित सदभूत व्यवहारनय कहते हैं। जैसे घटज्ञान। तो यहाँ ज्ञानको जीवका गुण बताया जा रहा है। यह अश तो सदभूत है और जीवका ज्ञान इस तरह गुण गुणी का भेद किया जा रहा है, यह व्यवहारका अश है तथा वह गुण जीवमे घटका नाम लेकर उपचरित किया गया, यह अश उपचरित अंश है। ऐसे ज्ञान वाले नयको उपचरित सदभूत व्यवहारनय कहते हैं, अथवा ज्ञानका लक्षण इस विधिसे बताना कि जिसमे ज्ञेयका सम्बन्ध आये और उस ज्ञेयके सम्बन्धके कारण उसके लक्षणका बोध हो तो इस परिज्ञानको भी उपचरित सदभूत व्यवहारनय कहते हैं। उपचरित सदभूत व्यवहारनय भी ज्ञाताको एक सुन्दर दिशाकी ओर ले जाता है। भले ही वहाँ परसे उपचार किया गया लेकिन जीवके गुणका जीवमे ही आरोप किया गया है। आरोप होता है भेदकी स्थितिमे। जीवका ही वह ज्ञान है लेकिन उस ज्ञानका जीवमे जब आरोप किया जाता है तो बुद्धिमें जीवका स्वरूप और ज्ञानका स्वरूप भिन्न भिन्न समझा गया है और जब ज्ञानका जीवमें आरोप किया जाता है परका सम्बध लेकर आरोप किया जाता है तब उसे उपचरित सदभूत व्यवहारनय कहते हैं।

अर्थविकल्पो ज्ञानं प्रमाणमिति लक्ष्यतेधुनापि यथा।
अर्थः स्वपरनिकायो भवति विकल्पस्तु चित्तदाकारम् ॥५४१॥

उपचरित सद्भूत व्यवहारनयका उदाहरण—उपचरित सदभूतव्यवहारनयका दृष्टान्त इस गाथामे बताया है उपचरित सदभूत व्यवहारका अर्थ है कि बात तो कहना ऐसी जो वस्तुमें पायी जाती है। उस ही वस्तुके गुणको उस ही वस्तुमे बताना यह सदभूत व्यवहार है, किन्तु किसी परका नाम लेकर उसका स्पष्टीकरण

करना यह उपचरित है । दृष्टान्त बताया गया है कि जैसे प्रमाणका लक्षण जब यह कहा जाता कि अर्थ विकल्परूप ज्ञान प्रमाण है और उस ज्ञानका स्वरूप बताया है कि जो स्वपर व्यवसायी हो वह ज्ञान प्रमाण है । तो ज्ञानका स्वरूप ज्ञानके ही कारण अपने आपमे है । मेरा परसे कोई सम्बन्ध नही है फिर भी पर सम्बन्ध बताकर उसके लक्षणको स्पष्ट करना यह उपचरितपना है । अर्थ विकल्पको ज्ञान कहते हैं और अर्थका अर्थ है स्व और पर याने स्व और पर पदार्थका जो निश्चय करने वाला ज्ञान है वह प्रमाण है । ज्ञानकी बात बताये तो सही है, जितने भी ज्ञान होते हैं उनमे विषय स्व और पर होते हैं । लेकिन ज्ञानका जीवन, ज्ञानका अस्तित्व स्व और परके आधार पर नही है । ज्ञान स्वयं अपने आपमे प्रकट है फिर भी उसका बोध उपचार किए बिना नही हो सकता था अत. यह कहना पडा कि जो स्व परका निश्चय करे ऐसे ज्ञानको प्रमाण कहते हैं । ज्ञान परमार्थतः अपने स्वरूपको जानता हुआ ही पर पदार्थोंको जानता है । यह तो उसकी प्रमाणताका कारण है । क्यो है यह ज्ञान प्रमाण ? यो है कि वह अपने आपको जानता हुआ परको जानता है और इसी कारण यह विकल्पात्मक अवस्थासे वर्णन किया गया है कि जो स्व और पर पदार्थोंका निश्चय कराये ऐसे बोधको प्रमाण कहते हैं । तो ज्ञानका स्वरूप है तो अपने आप । ज्ञान जिस रूप परिणमन रहा है वह ज्ञानकी ही निज कला है और अपनी परिणति विशेषतासे परिणम रहा है । लेकिन, यहाँपर ज्ञानका स्वरूप ज्ञानके विषयभूत पदार्थोंके आरोपसे किया जा रहा है । जो परका निश्चय करे वह ज्ञान प्रमाण है । इस तरह उपचरितपना तो आया लेकिन सद्भूतताका खण्डन नही हुआ । विकल्प रूप ज्ञानको जीवका ही गुण बताया गया है इस कारण यह उपचरित, सद्भूत व्यवहारनयका विषय है । यदि ज्ञानकी उत्पत्ति परसे है ऐसा कहा जाता तो यह परका गुण कहलाता और यह नयाभास होता । नय जितने भी होते हैं वे विवक्षित निज वस्तुमें उस ही वस्तुके गुणका प्रतिपादन करते हैं । किसी परका किसी परके साथ स्वामित्व बताना कर्तृत्व बताना यह सब नय नही किन्तु नयाभास है । नय चूंकि प्रमाणका भेद है प्रमाणका अश है और प्रमाण कहते हैं कि जैसा पदार्थ हो उस तरह जाने । तो जैसा पदार्थ है उस ही तरहसे उसके अश जाने वह ही तो यह कहलायेगा । परका परके साथ मेल बताकर कहना यह नयकी बात न बनेगी । तो यहाँ उस ज्ञान को जीव का ही गुण कहा गया, यह तो है सद्भूतपना परन्तु पर पदार्थके उपचारसे कहा गया यह उसका उपचरितपना है । इसी बातको और भी स्पष्ट कहते हैं ।

असदपि लक्षणमेतत्सन्मात्रत्वे सुनिर्विकल्पत्वात् ।
तदपि न विनावलम्बान्निर्विषयं शक्यते वक्तुम् ॥ ५४२ ॥

उपचरित सद्भूतव्यवहारनयके उदाहरणमे उपचरित सद्भूतव्यव-

द्वारपने का परिचय—उक्त गाथामे जो दृष्टान्त दिया गया है उसमे उपचरित सद्भूत व्यवहारनयकी बात किस तरह घटित होती है इसका स्पष्टीकरण इस गाथा में है। ज्ञान तो ज्ञानरूप है वह अपने आपमे निर्विकल्प है और इस कारणसे जो वह है उस ही प्रकार सन्मात्र है। उसका जो यह लक्षण बनाया गया है कि अर्थ विकल्प ज्ञान कहलाता है। यह विकल्प स्वरूप लक्षण उस ज्ञानमे परमार्थतः नही है, फिर भी यदि परका अवलम्बन नही लेते तो इस तरह निर्विषय होनेपर उस ज्ञानरूपका कथन नही किया जा सकता था, इस कारण इस उपचरित सद्भूत व्यवहारका आश्रय लेना पडा है। ज्ञान है उसमे जो परिणमन होता है, हो रहा है, अब क्या हो रहा, इस बातको उसके विषयभूतका नाम लेकर ही बताया जा सकता है। और किसी भी पर पदार्थका नाम लेकर अन्य वस्तुको गुण बनाना यह उपचरितपना है। तो अर्थविकल्प को ज्ञान कहते हैं। इसमे इतना उपचरितपना आया है फिर भी इस ज्ञाताकी दृष्टिमे यह बात समाई हुई है कि ज्ञान तो जीवका गुण है। जिस पदार्थको जान रहा है उस पदार्थका गुण नही है, इस तरह परमार्थ तत्त्वकी अपेक्षा रखनेपर ही इसमें प्रमाणता आती है। तो निर्विषय होकर कहा जाना अशक्य था इस कारण उपचरितपनेकी बात उपकारके लिए की गई है। कैसे जगतमे तीर्थ प्रवृत्ति हो? लोगोको कैसे इस अंतस्तत्त्वका बोध हो? इसके प्रयासमे उपचरित सद्भूत व्यवहारनयका भी प्रयोग करना होता है। फिर भी इस तथ्यसे अलग न होना चाहिए कि यदि वह निश्चय-नयको निरपेक्ष होता है अथवा उपचरित सद्भूत व्यवहारनयको जो कहा है केवल इतना ही बोधमे रहता है। निश्चयनयके विषयभूत तत्त्वकी श्रद्धा नही है तो यह नय मिथ्या हो जायगा। तो सद्भूतपना रहे इस तरहसे उपचरितपना किया गया है। अतः उपचरित सद्भूत व्यवहारनय उक्त दृष्टान्तके अर्थ विकल्पको ज्ञान कहते हैं और ऐसा प्रमाण है यह इस नयकी दृष्टिमे सगत ही है।

तस्मादनन्यशरणं सदपि ज्ञानं स्वरूपसिद्धत्वात्।
उपचरितं हेतुवशात् तदिह ज्ञानं तदन्यशरणमिव ॥५४३॥

अनन्यशरण तत्त्वमे कारणवश अन्यशरणत्वकी प्रतीति—इस दृष्टान्त मे प्रस्तुत नयकी क्या बात सिद्ध की गई है? यहाँ यह बात सिद्ध की गई है कि ज्ञान अपने स्वरूपसे स्वय सिद्ध है, अर्थात् ज्ञान अनन्य शरण है। वह किसी पर पदार्थका शरण लेकर जीवित नही है। ज्ञान स्वरूपसे स्वय ही जगमगा रहा है वह अपना काम किए बिना रहता नही है अब स्वय ही प्रकाशमान इस जीवके उस ज्ञान प्रकाश को किस तरह समझाया जाय जगतको उसमे पर पदार्थका उपचार लेना पड रहा है। तो यह स्वरूप है यद्यपि अनन्य शरण अर्थात् ज्ञानका ज्ञान ही शरण है। ज्ञान स्वय अपने द्रव्यसे, अपने अस्तित्वसे, अपने ही कालसे उदित हुआ है फिर भी पर

पदार्थ विषय हो रहे हैं तो उन विषयोंके उपचारसे उन हेतुवोंके कारणसे यह ज्ञान अन्य शरणके समान उपचरित हो रहा है। ज्ञाताकी दृष्टिमें और कथन करते हुए आचार्य महाराजकी दृष्टिमें कितने खेदके साथ यह बात स्पष्ट कही जा रही है कि देखिये ज्ञान तो अनन्य शरण ही है, क्योंकि वह स्वतन्त्र है, अपने अस्तित्वसे है, अपने ही रूपसे परिणम रहा है। इस तरह ज्ञान अनन्य शरण है। खुद ही खुदके लिए शरण है लेकिन यहाँ प्रतिपादनके प्रसङ्गमें, दूसरोंको प्रतिबोध करनेके प्रसङ्गमें, विषय का उपचार करके जो लक्षण बनाया गया है, ऐसा यह अन्य शरणकी तरह प्रतीत हो रहा है कि मानो यह ज्ञान इनपर पदार्थोंकी शरणमें हो और उस शरणमें अपना जीवन रख रहे हो। इस प्रकार अन्य शरणके समान प्रतीत होनेको ही तो उपचरित-पना कहते हैं। उपचरितमें यही बात आती है कि जैसे मानो लग रहा हो कि दूसरे के शरणपर ही इनका अस्तित्व है। पर ऐसा है नहीं। पर कथनमें जो उपचार किया गया है उस उपचारसे कुछ यह ढग सा बना है लेकिन ज्ञाता ऐसा लक्षण करने करते सुननेके बाद भी यह नहीं समझ रहा है कि ज्ञान अन्य शरण बन गया। इन पदार्थोंके एहसानसे ही अपना जीवन रख रहा ज्ञान अपने स्वरूपसे प्रकाशमान है, परन्तु इसके प्रतिपादनमें परका उपचार किया गया है जिससे अन्य शरणकी भाँति प्रतीत होता है।

हेतुः स्वरूपसिद्धिं विना न परसिद्धिरप्रमाणत्वात् ।
तदपि च शक्तिविशेषाद्द्रव्यविशेषे यथाप्रमाणं स्यात् ।५४४।

उपचरित सद्भूत व्यवहारनयकी प्रवृत्तिमें हेतु—उपचरित सद्भूतव्यव-हारनयका जो उदाहरण दिया गया है और उसमें उसके स्वरूपकी विवेचना भी की गई है। यहाँ यह बताया गया है कि प्रस्तुत विषय अनन्य शरण होकर भी उपचारकी वजहसे अन्य शरण जैसा प्रतीत होता है। ऐसा होनेमें कारण क्या है? इसका वर्णन इस गाथामें किया गया है। यहाँ स्वरूपसिद्धिके बिना परसे सिद्धि मानी जाय, तो वह अप्रमाण ही है। अर्थविकल्प ज्ञान है, ऐसा लक्षण तो किया गया है परन्तु ज्ञान स्वरूपसे सिद्ध है और जब स्वरूपसे सिद्ध है तभी वह परसे भी सिद्ध माना जा सकता है अर्थात् उसमे परका उपचार करके भी स्वरूप विवरणका व्यवहार किया जा सकता है। ज्ञान स्वरूपसे सिद्ध है और वह जीव द्रव्यका गुण विशेष है। यह बात भले प्रकार प्रमाणित है। भले ही परपदार्थका बोध प्रमाणित है, ऐसा कहनेमें ज्ञानमें प्रमाणता परसे लगायी गई है और उसका निर्णय भी परकी और दृष्टि बनाकर विश्लेषण करके किया जाता है। जैसे सीपको सीप जाना तो वहाँ प्रमाणता इस द्वार से लायी जाती है कि वहाँ सीप ही है, जैसे कि जाना इस कारण यह ज्ञान प्रमाण है। लेकिन क्या ज्ञानका स्वरूप, ज्ञानका प्रमाणत्व क्या पर पदार्थके कारण हुआ

करता है लेकिन प्रमाणपनेका फल क्या घटित करता है और उससे किस मार्गका सवरण करता है यह बात पर पदार्थोंके निर्णयके कारण हुआ करती है। इस कारण परके उपचारसे ज्ञानमे प्रमाणता बताया है फिर भी यहा यह निरखना चाहिए कि पर पदार्थसे प्रमाणता ज्ञानमे तभी आ सकती है जब वह ज्ञान अपने स्वरूपसे सिद्ध हो। बस इन ही दोनो बातोका समन्वय और प्रतिबोध इस उपचरित सद्भूत व्यवहार नयसे होता है। जिसमे यह निर्णय किया गया है कि ज्ञान जीव द्रव्यका विशेष गुण है और वह स्वय सिद्ध होकर भी परसे उपचार किया जाता है। उपचारकी बात केवल ज्ञायक पक्षमे हुआ करती है। कारक पक्षमे तो जैसा जो कुछ होना है अपने उपादान की योग्यतासे अथवा साथ ही परका निमित्त पाकर जैसा जो कुछ होता है, उसमे उपचारकी बात नही होती। उपचार तो केवल ज्ञायक पक्षमे है, समझाना समझना यह होता है परका उपचार करके। तो यह एक नय है और नयका प्रयोजन प्रतिबोध होता है इस कारण इस उपचरित सद्भूत व्यवहारनयमे परका उपचार करके प्रतिबोध कराया है।

अर्थो ज्ञेयज्ञायकसङ्करदोषभ्रमक्षयो यदि वा।
अविनाभावात् साध्यं सामान्य साधको विशेषः स्यात् ।५४५।

उपचरितसद्व्यवहारनयका प्रथम फल ज्ञेयज्ञायकसङ्करदोषक्षय— इस गाथामें यह बताया है कि उपचरित सद्भूत व्यवहारनयका फल क्या है। उपचरित सद्भूत व्यवहारनयका यह फल है कि इसकी ज्योतिमे ज्ञेय ज्ञायकमे साकर्य न आये और ज्ञान पदार्थमे साकर्य न आये। अर्थात् ज्ञानने पदार्थको विषय किया तो वहाँ केवल वह विषय मात्र है। कही विषय और ज्ञान एक नही होगए। इस प्रकार की विलक्षणता का बताना इस नयका प्रयोजन है अथवा उसमे सकर दोष न आवे, यह नयका प्रयोजन है। दूसरा प्रयोजन यह है कि यहाँ किसी प्रकारका भ्रम भी उत्पन्न न हो। जैसे अनेक दार्शनिकोने ज्ञानको पदार्थसे निष्पन्न माना है तो वहाँ भ्रम का भी अवकाश हो गया और साकर्य दोष भी बन जाता है। तो साकर्य दोष और भ्रम दोनोका दूर होना इस नयका फल है। उपचरित सदभूत व्यवहारनयमे इस ही ढङ्गसे तो समझा गया कि जैसे घट ज्ञान घटका नाम लेकर उस ज्ञानके स्वरू का बोध किया गया। वस्तुतः वह ज्ञान जैसा अपने आपमे है सो ही है वह जीवका एक परिणमन है पर किस प्रकारका वह परिणमन है यह बतानेके लिए उस ज्ञानमे जो विषयभूत हुआ है उसका सम्बन्ध बताकर प्रसङ्ग बताकर समझाया जाता है कि यह घट ज्ञान और ज्ञान इन दोनोमे अविनाभाव है प्रस्तुत उदाहरणमे घटित किया जा रहा है कि जो ज्ञान हुआ है वह घट विषयक ज्ञानका आकार न हो ऐसा तो नही है और घटविषयक आकारका प्रतिबोध है तिसपर भी वह ज्ञान न हो, और सीधा घट ज्ञान हो गया हो ऐसा भी नही है। अर्थात् यह ज्ञान सामान्य साध्य है और घट ज्ञान

आदिक विशेष ये साधक हैं। इन दोनोंका अविनाभाव है। इसका कारण यह है कि पदार्थ तो प्रमेय होते हैं अतएव किसी न किसीके ज्ञानके विषयभूत होते ही हैं। ज्ञानमें विषयभूत हो जाना यह प्रत्येक सत्में स्वभाव पड़ा हुआ है और यहाँ ज्ञानको देखा तो वह भी निर्विषय नहीं होता। यदि किसी विषयको लेकर अपने स्वरूपका निर्माण करना है ? निर्माण क्या करना ? यह सहज होता रहता है। ज्ञानके परिणमन चलते हैं। वहाँ कोई परविषयक भूत हुआ करता है। तो जब इस तरहका सम्बन्ध है तो ऐसी दशामें कुछ लोग सांकर्य जैसी बुद्धि बना सकते हैं।

उपचरितसद्भूतव्यवहारनयका द्वितीय फल ज्ञेयज्ञायकविषयकभ्रमक्षय कुछ लोग ज्ञेयज्ञायकके सम्बन्धमे भ्रम उत्पन्न कर सकते हैं। उस ज्ञानकी उत्पत्ति घट से हुई, उस ज्ञानमे घट जैसा तद्रूप्य है, आदिक भ्रम हो सकते हैं। तो सांकर्य और भ्रम दोनोंको दूर कर देना उस नयका फल है कुछ लोग जो पदार्थोंका स्वरूप यथार्थ नही समझते वे ज्ञानको घट पट आदिक पर पदार्थोंका धर्म बतलाते हैं और कोई कोई पुरुष पर पदार्थके धर्म इस ज्ञानमे पहुँच जाते हैं इस तरह कहते हैं और कोई पुरुष इस ही विषय विषयीके सम्बन्धसे तादृरूप्य आदिक अनेक प्रकारका भ्रम बना लेते हैं। ये सारे अज्ञानके दोष दूर हो जायें ऐसी ज्योति इस उपचरितसदभूत व्यवहारनयसे प्रकट हुई है। इसकी स्पष्ट घोषणा है कि है तो वह सब सद्भूत किन्तु व्यवहारकी दिशामें पर पदार्थसे उपचरित किया गया है। यहाँ अर्थविकल्पता ज्ञानका साधक है और अर्थविकल्प जैसा विशेषण घटज्ञान, पटज्ञान आदिक ये ज्ञानके विशेषण बन गए। ये ज्ञानके साधक हैं और सिद्ध क्या किया गया ? सामान्य ज्ञान। प्रयोजन तो जीवके असाधारण गुणभूत उस सामान्य ज्ञानकी सिद्धि करना है। सो इन विशेषणोंके द्वारा भी सामान्य ज्ञानकी सिद्धि होती है। वही घट पट आदिकके ये धर्म है प्रतिबोध यह सिद्ध नही होता। तो इस प्रकारका यथार्थ बोध करा देना और सांकर्य एव भ्रमको दूर करा देना इस उपचरित सद्भूत व्यवहारनयका फल है।

अपि वाऽसद्भूतो योऽनुपचरिताख्यो नयः स भवति यथा।
क्रोधाद्या जीवस्य हि विवक्षिताश्चेदबुद्धिभवाः॥५४६॥

अनुपचरित असद्भूतव्यवहारनयका स्वरूप और उदाहरण—इस गाथामे अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनयका स्वरूप एव दृष्टान्त बताया गया है। अनुपचरितसद्भूत व्यवहारनयका शब्दार्थ यह है कि व्यवहार असद्भूतका करना अर्थात् जो जीवादिक वस्तुमे सहज स्वभावत. बात नही पडी है उसका प्रतिपादन जब किसी परका आलम्बन लिए विना हो रहा हो तब वह अनुपचरित असद्भूत व्यवहार कहलाता है। जैसे अबुद्धिपूर्वक होने वाली कषायोंमे जीवके भावोकी विवक्षा करना, सो यह अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय कहलाता है। ये क्रोधादिक विकारभाव

र्मोदयका निमित्त पाकर होते है अथवा कहो कर्म निमित्त पाकर होते हैं अथवा कहो र्मोके सम्बन्धसे होते है, अतएव ये जीवके नही कहे जा सकते । यद्यपि कषाय जीवमे ी परिणाम रहे हैं परन्तु केवल जीवमे जीवके ही निमित्तसे स्वरूपत. उत्पन्न नहीं हो हे अतएव ये जीवके नही कहे जाते । इस कारण ये असद्भूत हैं, ऐसे असद्भूत भावोको बिना उपचारके प्रतिपादन करना सो अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय है । इन विकार भावोमे अनुपचरितता इस ढङ्गसे आती है कि ये विकार भाव दो प्रकारके होते हैं एक बुद्धिगत दूसरे अबुद्धिगत । जो भाव बुद्धिमे आ रहे है स्थूलतासे उदयमे आ रहे हैं, जिनके विषयमे हम परिज्ञान कर सकते हैं, अनुभव और महसूस भी करते हैं ये कषाये हुई है ऐसे बुद्धिगत भाव तो होते हैं उपचरित, किन्तु जो विकार भाव अबुद्धिगत हैं जहाँ ये विकार सूक्ष्मतासे अनुभवमे आ रहे हैं, जिनके सम्बन्धमे यह निर्णय भी नही बन पाता कि ये हैं क्रोधादिक भाव, ऐसे अबुद्धिगत भावोको जीवके बनाना सो अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय है । इस उदाहरणमे विकार भावोको जीवके कहना इतना अश तो असद्भूत व्यवहारपनेका है । जीव सत्मे सहज स्वभावत. उत्पन्न नही हुए और फिर भी जीवके कहे जा रहे है यह तो असद्भूतपनेकी बात है और इसके साथ गुण गुणीका भेद तो चल ही रहा है, पर्याय अशका जीवसे सम्बन्ध बताया ही जा रहा है तो यह व्यवहार अश है और जो क्रोधादिक विकार अबुद्धिगत हैं, अनुभवमे नही आ पा रहे हैं उनको कहना इतनी बात अनुपचरितपनेकी है ।

कारणमिह यस्य सतो या शक्तिः स्याद्विभावभावमयी ।
उपयोगदशाविष्टा सा शक्तिः स्यात्तदाप्ययन्यमयी ॥ ५४७ ॥

उपचरित असद्भूत व्यवहारनयकी प्रवृत्तिमे कारण—अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनयकी प्रवृत्ति क्यो हुई है ? और इस प्रवृत्तिसे क्या बात ध्वनित हुई है ? इसका कथन इस गाथामे किया गया है । जिस पदार्थकी जो शक्ति विभाव भावरूप हो रही है और कार्यकारिणी बन रही है उपयोग अवस्थामे आई हुई है तो भी वह शक्ति अन्य पदार्थकी नही कही जा सकती । यही अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनयकी प्रवृत्तिमे हेतु है । यदि कोई शक्ति किसी दूसरी शक्तिरूप परिणम जाय तब एक पदार्थके गुण दूसरे पदार्थमे चले जानेसे सकर और अभाव दोष उत्पन्न हो जाता है । एक गुण दूसरेमे चला गया तो उसमे अब व्यक्तिता क्या रही कि यह यह है, यह वह है ? जब दोनोके गुण परस्पर प्रविष्ट हो गए तो वहाँ दो न रहेगे । यो तो सांकर्य दोष आता है । दूसरा अभाव दोष इस प्रकार आता है कि यदि एक शक्ति दूसरी शक्तिरूप बन जाय तो यह उस रूप बन जाय, वह इस रूप बन जाय । तो इसका अर्थ क्या हुआ ? कोई भी न रहा ! न यह रहा, न वह रहा । तो इस तरहका जो कोई कथन हो या कोई परिज्ञान कर रहा हो कि एक शक्ति दूसरी शक्तिरूप हो

जाती है तो यह दिखा बदल है। जीवमें जो क्रोधादिक विकार भाव पाये हैं वे जीव के चारित्र गुणके ही विकार हैं और पर उपाधिका निमित्त पाकर निष्पन्न हुए हैं। तो यह चारित्रगुण कितने ही विकारमें आ जाय फिर भी यह जीवका ही रहेगा। बस यही परिचय असद्भूत व्यवहारनयकी प्रतीतिमें कारण होता है।

फलमागन्तुक भावाः स्वपरनिमित्ता भवन्ति यावन्तः।
क्षणिकत्वान्नादेया इति बुद्धिः स्यादनात्मधर्मत्वात् ॥५४८॥

अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनयका फल— अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनयका फल क्या है, अर्थात् इस नयके परिज्ञानसे जीवको किसकी क्या शिक्षा मिलती है इसका वर्णन इस गाथामें किया है। अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनयने यह बताया कि बुद्धिगत क्रोधादिक भाव जीवके हैं। तो इस वर्णनमें यह शिक्षा मिलती है कि ये भाव स्वपर निमित्तक हैं। अर्थात् हुए तो जीवमें, पर हुए कर्मोदयका निमित्त पाकर, अतएव आगंतुक भाव हैं, ये आत्माके धर्म नहीं हैं और ये क्षणिक भी हैं। तो क्षणिक होनेके कारण तथा आत्माके धर्म न होनेके कारण ये क्रोधादिक विकारभाव ग्राह्य नहीं हैं। ऐसी बुद्धि इस नयकी ज्योतिमें बनती है। तब स्पष्ट ही यह कहा जा रहा कि यह असद्भूतका व्यवहार है। जो सद्भूत आत्मामें स्वयं सहज नहीं हुए हैं, किन्तु उपाधिका निमित्त पाकर हुए हैं, इस कारण ये जीवके नहीं हैं, यह बुद्धि बनती है और इस बुद्धिके बननेसे जीवको उन विकारोंसे उपेक्षा हो जाती है और जो आत्मस्वभाव है उसकी ओर रुचि हो जाती है। इस जीवको सर्वाधिक व्यामोह अपने विकार भावोंका है, क्योंकि इसको निकटता विकारोंमें अधिक है। निकटता क्या स्वयं ही विकारके सम्बन्धमें यह जीव विकारमय हो जाता है। तो जब उन विकारोंसे ही उपेक्षा हो जाय तो यह जीव जानेगा किसे? रमेगा किसे? फिर तो अनन्य शरण होकर अपने आपमें रमेगा। तो इस असद्भूत व्यवहारनयकी ज्योतिमें यह निर्णय बना दिया कि ये आगंतुक क्रोधादिक भाव जीवके नहीं हैं। और इस ज्योतिमें भी विकारोंसे उपेक्षा हुई और निज तत्त्वकी ओर उसकी दृष्टि लगी। उसने यहाँ यह समझ लिया कि ये भाव परके निमित्तसे हुए हैं, इस कारण अग्राह्य हैं। सम्यग्ज्ञानमें निमित्त नैमित्तिक भाव जानते हुए वस्तुस्वातन्त्र्यका ज्ञान किया जाता है। तो इस नयमें ये दोनों दृष्टियाँ बनीं। ये क्रोधादिकभाव नैमित्तिक भाव हैं और नैमित्तिक भाव हैं तब इनसे कुछ मैं न्यारा हूं यह अपने आप सिद्ध होता है। तो इन नैमित्तिक भावोंसे न्यारा यह मैं ज्ञानस्वभाव हूं, इस नयके फलमें दो बातें जगीं—इन पर्यायोंसे उपेक्षा और शुद्ध स्वभावकी दृष्टि। अतएव अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनयमें यह अनुमान हुआ कि यह जीव अबुद्धिगत विकारोंसे भी उपेक्षित हो जाता है। अब उपचरित असद्भूत व्यवहारनयका स्वरूप कहते हैं।

भूत व्यवहारनय है। अब बतलाते हैं कि इस नयकी उत्पत्तिमें कारण क्या हुआ? किस कारणसे इस नयकी ज्योति प्रकट हुई?

बीजं विभावभावाः स्वपरोभय हेतवस्तथा नियमात्।
सत्यपि शक्ति विशेषे न परनिमित्ताद्विना भवन्ति यतः ॥५५०॥

उपचरित असदद्भूत व्यवहारनयकी प्रवृत्तिका कारण—उपचरित असदभूत व्यवहारनयकी निष्पत्तिमें कारण यह है कि ये विभावभाव स्वपर निमित्तक हैं, अर्थात् स्वके सत्का से हुए हैं। स्वसे हुए हैं, किन्तु हुए हैं कर्मोदयका निमित्त पाकर। सो यहाँ यह बोध रहता है कि यद्यपि क्रोधादिक विकार जीव द्रव्यके चारित्र शक्तिके परिणमन हैं, विकृत परिणमन हैं तो हैं जीवके ही परिणमन किन्तु वे पर निमित्त बिना नहीं हो सकते। ऐसी बुद्धि इस उपचरित असदभूत व्यवहारनयकी निष्पत्तिमें कारण हुई और इससे शीघ्र ही यह शिक्षा मिलती है कि यह मैं नहीं हू यह मेरा स्वरूप नहीं है। मुझे इसमे रमना नहीं है, उसको पकडकर नही रहना है और इस हीके साथ साथ सर्व जीवोमें भी ऐसी ही स्वरूपकी दृष्टि जगती है। सभी जीवोके ये विकारी भाव उनके स्वरूपत नही हुए और इस दृष्टिमे व्यवहारके लिए भी यह शिक्षा मिलती है कि किसीने मेरे प्रति कषायकी विरोध किया, विकल्प किया तो वहाँ यह समझ सकते हैं कि इस भगवान आत्माका क्या अपराध है? वैसे ही कर्म उदयमें आये हैं, उपाधिके निमित्तसे इस तरहसे हममे परिणाम जगे। जो स्वत सिद्ध स्वतन्त्र आत्मा है वह तो निर्दोष है, ऐसी शक्तिका विचार करके दूसरे जीवोमे भी निर्दोषताकी परख होती है तो उससे फिर अपनेको छोड नही देता है। तो इस उपचरित असदभून व्यवहारनयकी निष्पत्तिका कारण यह है कि यह ज्ञान बना कि ये स्वय नही हुए, किन्तु पर निमित्तसे हुए। अत ये असदभूत हैं ग्रहण करने योग्य नही हैं, ऐसी बुद्धिने इस नयको जन्म दिया है।

तत्फलमविनाभावात्साध्यं तदबुद्धिपूर्वका भावाः।
तत्सत्तामात्रं प्रति साधनमिह बुद्धिपूर्वका भावाः ॥ ५५१ ॥

उपचरित असद्भूत व्यवहारनयका फल—उपचरित असदभूतव्यवहारनय का फल क्या है? इसका वर्णन इस गाथामें है। इस नयमे बुद्धिपूर्वक विकारोका परिज्ञान हुआ। जो क्रोधादिक विकार बुद्धिमे आये उन विकारोंका परिचय हुआ। उस परिचयसे अबुद्धिगत विकारका भी अनुमान बन गया जब अबुद्धिगत विकार बुद्धिमें ही नही आते तो उनका परिचय कैसे मिला? उसके परिचयका यह कारण बन जाता है। जब बुद्धि पूर्वक विभाव समझमे आ रहे हैं तो यह जाननेसे फिर कठिनता नहीं

होगी कि ऐसे विकार अबुद्धिगत मे हुआ करते हैं। जो समझमे न आये ऐसे भी विकार हैं। जैसे बुखारकी डिग्रियाँ समझमे आती हैं यह १०४ डिग्री बुखार है यह १०५ डिग्री बुखार है आदि तो जो प्रतिकम डिग्रीकी भी चीज हो, ९८ डिग्री तक समझमे आया कि कुछ होता है तो यह भी ज्ञान किया जा सकता है कि कोई ९० डिग्री भी होता है। ९० डिग्री न बुद्धिमे आये, न परीक्षामे आये और इतना उतरते उतरते तो पुरुषका मरण भी हो जाता है लेकिन अबुद्धिगत होकर भी अनुमान तो यह बताया है कि ९० की १०२ भी डिग्रियां हुआ करती हैं। अगर १०२ नम्बरकी डिग्री न हों तो उनका मिल करके जो १०० डिग्री बनी उनका निर्माण नहीं हो सकता। ऐसे ही यह बुद्धिपूर्वक विकार जो एक बडे अनुभागमे आये हैं वे समझमे आ गए। उनकी समझमे यह भी समझ बनती है कि अनेक विकार ऐसे अनुभागके भी होते है। ऐसे भी गुप्त मन्द होते हैं कि जो बुद्धिमे न आये। तो वे बुद्धिपूर्वक विकार भावोकी समझमे यह समझ बनती है कि अबुद्धिगत भी विकार हुआ करते है। तो उन अबुद्धिगत विकारोकी सत्ता समझनेके लिए ये बुद्धिपूर्वक विकार साधक हैं और वे अबुद्धिगत विकार साध्य होते हैं। तो उपचरित असदभूत व्यवहारके विषयसे अथवा इस विषयके परिज्ञानसे अनुपचरित असदभूत व्यवहारनयका विषय भी ज्ञात कर लिया जाता है यह इसका एक साक्षात् फल है। साथ ही यह भी फल है कि इन बुद्धिगत विकारोको असदभूत जानकर औपाधिक समझकर उनसे उपेक्षा हो जाय और जो आत्माका शुद्ध स्वरूप है स्वत सिद्ध उसकी ओर दृष्टि आ जाय यह भी नयका फल है।

ननु चासद्भूतादि भवति स यत्रेत्यदगुणारोपः।
दृष्टान्तादपि च यथा जीवो वर्णादिमानिहास्त्विति चेत् ॥५५२॥

अतद्गुणारोपको असद्भूतव्यवहारनय माननेका शङ्काकारका प्रस्ताव

है वह उचित नही है। प्रसङ्ग यह बताया था कि उसी वस्तुके गुण उसी वस्तुमे आरोपित किए जायें उसको असदभूत व्यवहारनय कहते हैं। तो यों तदगुणारोपी व्यवहार होना चाहिए। जो गुण नही है, दूसरे पदार्थमे है उसके गुण इसमें बताना सो तदगुणारोप है और वही असदभूत व्यवहार सही मायनेमें हो सकता है। तदगुणारोपी व्यवहार यदि सदभूत व्यवहार बन गया उस हीके गुण उस हीमे बताना यह तो सदभूत जैसी बात है। असदभूतपनेकी बात नही आई। हाँ अतदगुणारोप है जो गुण नही है, दूसरी वस्तुमें हैं, उसके गुणोंका आरोप हो तो असदभूत बनेगा। सो यहाँ यह बीज भी सही बनता है कि वर्णादिक हैं भी पुदगलके गुण, किन्तु उन्हें जीवके कहा जा रहा है, इसे असदभूतव्यवहारनय कहते हैं। अब इस शङ्काके समाधानमें कहते हैं।

तन्न यतो न नयास्ते किन्तु नयाभाससंज्ञकाः सन्ति।
स्वयमप्यतद्गुणत्वाद् व्यवहाराऽविशेषतो न्यायात् ॥५५३॥

असद्गुणारोपमे नयाभासताका समाधान—समाधानमे कहते हैं कि शङ्काकारका उक्त अभिप्राय ठीक नही है क्योंकि जो असदगुणारोप हैं, परवस्तुके गुण अन्य वस्तुमे आरोपित करना, यह तो नय ही नही, किन्तु नयाभास है। तो नयाभास व्यवहारके योग्य नही है। नय तो उसे कहा जाना चाहिए जिससे कि कुछ शिक्षा मिले। कुछ आत्महितको प्रेरणाकी ज्योति मिले। नय तो वह सम्यक है किंतु दूसरी वस्तुके गुण दूसरी वस्तुमें बताना इससे न कोई शिक्षा मिलती है न आत्महितके लिए कोई ज्योति प्राप्त होती है। साथ ही यह भी समझना चाहिए कि नय हैं प्रमाणके अश और प्रमाण कहलाता है जो वस्तु दो उस ही वस्तुके बारेमे उस ही वस्तुका स्वरूप धर्म समझना। तब नयकी बात ऐसी ही है अलगसे कि वह आंशिक जानता है, परिपूर्ण वस्तुमेसे अशको ग्रहण करता है। जो वस्तुके ही अशको ग्रहण करे वही तो नय कहलायगा। जो अन्यके गुण अन्यमे बताये वह तो नय भी नही कहा जा सकता। और ऐसे नयोसे जो कि दूसरेके गुण दूसरेमे बनाये जायें उसे नयाभास कहते हैं। वह मिथ्यानय है, तदगुणारोपी हो तब वह व्यवहारनय हो सकता है, अन्य वस्तुसे अन्य वस्तुमें कोई गुण समझना यह तो मिथ्या बात है। नय मिथ्या नही हुआ करता है। नयोसे ज्योति मिला करती है। अत अतदगुणारोपको असदभूत व्यवहार कहा है, ऐसा शङ्काकारका आशय सगत नही है।

तदभिज्ञानं चैतद्येऽतद्गुणलक्षणा नया प्रोक्ताः।
तन्मिथ्यावादत्वाद्ध्वस्तास्तद्वादिनोपि मिथ्याख्याः ॥५५४॥

असद्गुपलक्षणी नयोकी मिथ्यावादरूपता—उक्त गाथामें जो समाधान

दिया गया है उसका स्पष्टीकरण यह है कि जितने अतदगुणारोप वाले नय बताये गए हैं वे सब मिथ्या नय हैं और वे निराकरण करनेके योग्य है। और जो उन नयोंके सुनयके रूपसे मानते है वे भी मिथ्या कथन करते हैं। नय कहते है प्रमाणसे ग्रहण किए गए वस्तुके अंशको। अब जो कुछ अन्य वस्तुके गुणोंकी बात अन्य वस्तुमे लादी जारही है वह प्रमाणकी कसौटीपर सही नही उतरती। तो जो प्रमाणसे परिग्रही नही है वस्तुप्रमाणसे तो भिन्न भिन्न स्थलोमे भिन्न-भिन्न रूपसे पदार्थ जाने गए। तो जो प्रमाणसे नही जाना गया, एक वस्तुका गुण धर्म अन्य वस्तुमे है, यह बात जब प्रमाण से समझी ही नही गई है तो उस अशको या धर्मको नय कैसे कहा जा सकता है? अतएव नयका लक्षण तो प्रमाण और परिगृहीत अशको ग्रहण करना सो नय है और उनमे जो स्वभावका वर्णन करने वाले हैं वे तो सद्भूत है और जो विभागोंका वर्णन करने वाले है वे असद्भूत है उन असद्भूतोमे जब किसी प्रकार आरोप किया जाता है तब उपचरित हो जाता है और जहाँ आरोप नही हो सकता है उतने सूक्ष्म विभागो का प्रधान हो उसे अनुपचरित कहते हैं। इस प्रकार अतदगुणारोप नय नही हो सकता है। यह उक्त समाधानमे स्पष्ट किया गया है।

तद्वादोऽथ यथा स्याज्जीवो वर्णादिमानिहास्तीति ।
इत्युक्ते न गुणः स्यात्प्रत्युत दोषस्तदेकबुद्धित्वात् ॥५५५॥

अतद्गुणलक्षणी नयोंकी मिथ्यावादरूपताका कारण—अतदगुणारोपका व्यवहार करना मिथ्यानय क्यो कहलाता है? इसका कारण इस गाथामे बताया गया है। अतदगुणारोप इस कारण मिथ्यावाद है कि प्रथम तो यही बात हो रही है कि रूप, रस गध, स्पर्श जीवमे त्रिकाल नही पाये जाते है, न क्षणिकरूपसे पाये जाते हैं न शाश्वत रूपसे पाये जाते है। इन धर्मोका जीवमे त्रिकाल अत्यन्ताभाव है फिर भी उसके बताये जा रहे है तो वह सम्यक कथन कैसे होगा? दूसरी बात यह है कि अन्य वस्तुके गुण अन्यमे बतानेका जो प्रयास किया है उससे इस जीवको लाभ क्या है? बल्कि इसमे उल्टा दोष ही आ रहा है। दोष यह आता है कि इस कथनको सुनकर कि जीवके रूप, रस गध आदिक है तो सुनकर लोग एकत्वबुद्धि करने लगेगे। हाँ, जीवमे रूप है जटता है, ये सब बातें एकत्व रूपसे आ जायेंगी। तब जीवके स्वरूपकी दृष्टि तक भी न रहेगी और ऐसी बुद्धि जगना यह अकल्याणरूप है, इस कारण अतदगुणारोपकी बुद्धि मिथ्यानय कहलाती है। जैसे प्रमाण जीवके लाभके लिए है, किसी भी प्रकारका यह लाभ पाये इष्टकी प्राप्ति और अनिष्टका परिहार करे, प्रमाण के लक्षणमे दर्शनशास्त्रमे यह भी तो बताया है कि जो हितकी प्राप्ति और अहितका परिहार करनेमे समर्थ हो उसे प्रमाण कहते हैं। यह बात यदि लौकिक घटनामें बनती है तो वह लौकिक रीतिमे प्रमाण है। यदि अलौकिक स्वरूपमे बनता है तो वह

अलौकिक पद्धतिसे प्रमाण है। किन्तु जहाँ हितका तो परिहार हो, अहितकी प्राप्ति हो उसे प्रमाण नहीं कहा गया है और प्रमाणके अंश ही हैं नय। ऐसे नयोंमें भी यही बात घटित होनी चाहिए कि जो हितकी प्राप्ति और अहितका परिहार करनेमें समर्थ हो वही नय कहलायगा। और, जो अहितमें ले जाय, हितसे दूर रखे उस नयको नय नहीं कहते हैं। अभी तक जो नयोंका वर्णन हुआ है उस सबमें यह स्पष्ट हो रहा है कि किसी ढंगमें आत्महितकी प्राप्ति और अहितका परिहार होता है। जैसे निश्चय नयमें तो स्पष्ट ही यह प्रतिभास बसा हुआ है कि सहज स्वभावकी दृष्टि शाश्वत् स्वरूपकी उपासना यह जीवके लिए कल्याणकारी है।

सम्यक व्यवहारनयोंकी हितकारिता— व्यवहारनयोंमें जो सद्भूत व्यवहारकी बात बताई गई है उसमें भी यह दृष्टि पहुचाई गई है कि यद्यपि आत्मा अखण्ड है उसमें गुण गुणीका भेद नहीं है, जो है वही पूर्ण सत् है तिसपर भी एक शीघ्र प्रकृतिके लिए उसका प्रतिबोध करानेके लिए गुण गुणीका भेद करके व्यवहार किया जाता है कि ज्ञान जीवका गुण है। जिसमें ज्ञान पाया जाय वह जीव है। तो इस सद्भूत व्यवहारने यह दृष्टि बनाया कि ऐसा कहा जा रहा है व्यवहारसे पर यथार्थतया यह न मान लेना चाहिए कि जीवकी सत्ता जुदी है ज्ञान कुछ जुदा सत् है और जीवमें ज्ञान बसा हुआ है, इस प्रकारकी दृष्टि पैदा करानेके लिए सद्भूतव्यवहार की निष्पत्ति की गई है। इसी प्रकार जैसे विकल्प सङ्कटोंसे गुजर रहे हैं, उनका भी तो यथार्थ निर्णय करना आवश्यक है तभी तो उन विकल्पोंसे हट निर्विकल्प निराकुल दशामें आ सकेंगे। उसके लिए प्रमाण असद्भूत व्यवहारनयने किया है। ये क्रोधादिक भाव असद्भूत हैं अर्थात् कर्म उपाधिके निमित्त सन्निधानमें उत्पन्न हुए हैं जिससे फलित दृष्टि यह निकलती है कि मेरे स्वरूप नहीं हैं। मैं तो शाश्वत् अखण्ड हू एक प्रतिभास स्वरूप हूं। ये सब हो रहे हैं तो निमित्त नैमित्तिक भावके प्रसंगमें हो रहे हैं। ये मैं नहीं हू। उन विभाव भावोंसे उपेक्षित हू, उन्हे ग्राह्य न मानें, और उन सबसे भिन्न जो आत्मस्वभाव है अनादि अनन्त अखण्ड अहेतुक, उसकी उपासनामें उत्साह जगे, उस ओर दृष्टि बने, इसकी ज्योति यह असदभूत व्यवहारनय देता है। यहाँ तक व्यवहार में सदगुणारोपकी बात कही गई है लेकिन अतद्गुणारोपकी बात यदि दिखाई जाय तो उससे जीवका बिगाड ही होगा है, वह उल्टी श्रद्धा कर लेगा, इस कारण अतद्गुणारोपका जो व्यवहार है वह नय नहीं कहला सकता, किन्तु मिथ्या प्रतिपादन होनेसे नयाभास कहलाता है।

ननुकिल वस्तु विचारे भवतु गुणो वाथ दोष एव यतः।
न्यायबलादायातो दुर्वारः स्यान्नयप्रवाहश्च ॥५५६॥

अतदगुणारोपमें भी नयत्वकी दुर्निवारताकी आरेका—यहाँ शङ्काकार

कहता है कि जब वस्तुका विचार किया जा रहा हो उस समय चाहे कुछ गुण हो, चाहे कोई दोष हो उसकी यथार्थ सिद्धिमे दोष गुण आते रहे, पर नयोका जो प्रवाह न्याय नीतिके फलसे आया हुआ है वह तो दूर नही किया जा सकता । जो वस्तु जिस रूपमे है उसी रूपमे वह सिद्ध होगी । चाहे दोष आये अथवा गुण आये न्याय नीति का उल्लघन न करके कथन करना ही युक्त है । जो उक्त गाथामे यह कहा है कि रूप रस आदिमान जीव है ऐसा कथन उपचार असदभूत व्यवहारनय नही है किन्तु नयाभास है । तो नयाभास इसी बलपर तो कहा गया कि कोई यदि ऐसा सुन लेगा कि जीव वर्णादिमान है तो वह वर्ण जो जीवमे एकत्वबुद्धि कर लेगा और एकत्वबुद्धि करनेसे उल्टा उसका यत्न ही होगा सो चाहे कोई दोषकी और जाय या गुण ले पर नयोका व्यवहार जिस प्रकारसे होना चाहिए वह तो होगा ही तब फिर जीव वर्णादिमान है इस कथनको उपचरित असदभूत व्यवहारनय क्यो न मान लें । इस नयकी सिद्धिमे जीव और वर्णादिमे एकता भले ही प्रतीत हो परन्तु आखिर है तो यह भी एक नय कि जीव वर्णादिमान है । वर्ण जीवमे असदभूत है और वर्णादिकका जीवमे उपचार किया गया है । तब उसकी सिद्धि आवश्यक है । उसे क्यो मिथ्या बताया जा रहा है ? अब उक्त शङ्काके समाधानमे कहते हैं ।

सत्यं दुर्वारः स्यान्नयप्रवाहो यथा प्रमाणाद्वा ।
दुर्वारश्च तथा स्यात्सम्यङ् मिथ्येति नयविशेषोपि ॥५५७॥

नयविशेषोके सम्यक् व मिथ्या ये दो भेद कर देनेपर उक्त शकाका सहज समाधान शङ्काकार यह युक्ति देकर कि नय प्रवाह अनिवार्य है ऐसा सिद्ध करके जो जीवादिमान है इसे भी उपचरित सदभूत व्यवहारनयका विषय कह दिया गया है सो ऐसा सिद्ध नही किया जा सकता । यह बात ठीक है कि नय का प्रवाह अनिवार्य है पर साथ ही यह भी तो अनिवार्य है कि वह नय प्रवाह पराधीन हो । यदि वह प्रमाणाधीन है तब वह नय प्रवाह है और उसे नयोमें शामिल किया जा सकता है । तो नय प्रवाह अनिवार्य है ऐसा मानकर भी चले तो मान लीजिए कि कोई भी बात कही जाय वह किसी नयमे आनी चाहिए, आ जाय, पर यह भी तो एक तथ्य है कि कोई नय यथार्थ होता है और कोई नय मिथ्या होता है । ऐसे नयोकी विशेषता भी तो अनिवार्य है, उसे भी मान लीजिए । तो जीव वर्णादिमान है । यह कहना नय भी मान लीजिए तो यही माना जायगा कि यह मिथ्या नय है । नयका एक साधारण लक्षणके किसी अशका कथन करना सो नय है कुछ बात कहना सो नय है और भले ही एक असत्य बातका वर्णन किया सो वह नय बना रहे किन्तु वह नय मिथ्या नय है, क्योकि नय दो विधियोसे प्रवृत्त होता है एक सम्यकरूपसे और दूसरा मिथ्यारूपसे । इसी विषयको और स्पष्टरूपसे सुनो ।

अर्थविकल्पो ज्ञानं भवति तदेकं विकल्पमात्रत्वात् ।
अस्ति च सम्यग्ज्ञान मिथ्याज्ञानं विशेषविषयत्वात् ॥ ५५८॥

अर्थविकल्पताकी सम्भावना होनेपर भी नयोमे उक्त द्वैविध्यकी सम्भवता ज्ञान अर्थ विकल्पात्मक होता है अर्थात् ज्ञान स्व और पर पदार्थको विषय करता है, इस कारण ज्ञान सामान्यकी अपेक्षासे एक ही है क्योंकि जितने भी ज्ञान होते हैं वे सब अर्थ विकल्पात्मक होते हैं, परन्तु यह भी तो समझना चाहिए कि विशेष विषयो की अपेक्षासे उस वस्तुके दो भेद हो जाया करते हैं एक सम्यक ज्ञान और दूसरा मिथ्या ज्ञान । तो जैसे प्रमाणमें अर्थविकल्पताकी दृष्टिसे सभी जगह समान होनेपर भी वहाँ प्रमाण और प्रमाणाभास अथवा कहो सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञान ये दो पद्धतियाँ बन जाती हैं । इसी प्रकार नयप्रवाह अनिवार्य है, किसी कथनमे अथवा अतदगुणारोपमे या तदगुणारोपमे फिर भी इस बातको इकार नही किया जा सकता कि नयकी भी दो पद्धतियाँ हैं - एक मिथ्यारूप और एक यथार्थरूप ।

तत्रापि यथावस्तुज्ञानं सम्यग्विशेषहेतुः स्यात् ।
अथ चेदयथावस्तु ज्ञानं मिथ्याविशेषहेतुः स्यात् ॥ ५५९ ॥

ज्ञानके द्वैविध्यकी सगतता—और भी सुनो ! जैसे उन दोनो ज्ञानोमे ज्ञानपनेका कारण यथार्थ ज्ञान है और मिथ्या ज्ञानपनेका कारण वस्तुका अयथार्थज्ञान है तो यथार्थ वस्तु जानी गई या अयथार्थ वस्तु जाने इसका अर्थ यही तो है कि जिस प्रकारसे अर्थ है उस प्रकारसे ज्ञान हो उसे यथार्थ ज्ञान कहते हैं और जिस प्रकारसे अर्थ नहीं है उस प्रकारसे ज्ञान हो तो उसे अयथार्थ ज्ञान कहते हैं । जो वस्तु ज्ञानमे विषयभूत हुआ है उस वस्तुका वैसा ही ज्ञान होना जैसा कि वह है, इस हीका नाम सम्यग्ज्ञान है । जैसे किसीको यह ज्ञान बन रहा कि यह चाँदी है, जिस पदार्थके विषय में यह ज्ञान बन रहा कि चाँदी है वह यदि चाँदी ही है तब तो उसका ज्ञान सम्यग्ज्ञान है और यदि उसके सम्बन्धमे यह विकल्प हो गया हो कि यह सीप है तो पदार्थ तो है चाँदी, जिसको लक्ष्यमे लेकर विकल्प हो रहा है और विकल्प बना सीपका तो यह मिथ्या ज्ञान हो गया । जैसे ज्ञानमे वस्तु तो कुछ और ही पडी है और ज्ञान दूसरे पदार्थका बन जाय वही तो मिथ्याज्ञान है, तो देखिये ! विषय विशेषकी अपेक्षा ज्ञान में सम्यक और मिथ्या ये दो भेद हो गए ना तो ज्ञानपनेकी बात तो अनिवार्य हो गई क्योंकि अर्थ विकल्प यहाँ भी है वहाँ भी है, जब चाँदीको चाँदी जान रहा है वहाँपर भी अर्थ विकल्प है । पदार्थ प्रतिभास है और जब चाँदीको सीप समझ रहा है तब वह भी एक अर्थ विकल्प है पर वह अयथार्थ है । तो जैसे विषय विशेषकी अपेक्षामे ज्ञान सम्यक और मिथ्या हो जाता है उसी प्रकारसे विशेषकी अपेक्षासे नय भी सम्यक और

मिथ्या हो जाता है । अब इस ही बातको अगली गाथामे कह रहे हैं ।

ज्ञानं यथा तथासौ नयोस्ति सर्वो विकल्पमात्रत्वात् ।
तत्रापि नयः सम्यक् तदितरथा स्यान्नयाभासः ॥५६०॥

ज्ञानकी तरह नयोमे भी द्वैविध्यका औचित्य- जिस प्रकारसे ज्ञान सम्यक और मिथ्यारूप होता है, उसी प्रकार नय भी सम्यक और मिथ्यारूप होता है, जैसे सभी ज्ञान सामान्यज्ञान दृष्टिसे ज्ञान ही कहलाते है, क्योकि सर्व जगह अर्थविकल्प पडा हुआ है इस ही प्रकार सर्व नय भी सामान्य नयकी अपेक्षासे नय कहलाते है, क्योंकि इस खण्डित विषयको ही समझाया गया है । लेकिन जैसे ज्ञान सामान्य ज्ञान अपेक्षासे समान होनेपर भी विषय विशेषकी अपेक्षासे ज्ञानमे दो प्रकार बनते हैं एक सम्यग्ज्ञान और दूसरा मिथ्याज्ञान इसी प्रकार नय पद्धतिके ढङ्गसे द्रव्यनयोमे समानता होनेपर भी विषय विशेषकी अपेक्षासे कोई नय सम्यक नही कहलाता है, कोई नय मिथ्या नय कहलाता है । वस्तुमे जो अश व गुणरूपमे पाया जाय और न पर्यायरूपसे पाया जाय किन्तु अत्यन्त भिन्न अन्य पदार्थके गुण या पर्यायका आरोप किया जाता हो वह नय तो मिथ्या नय है । और जो नय वस्तुके स्वभावको, विभावको,गुण को, पर्यायको, किसी भी प्रकारके अशको समझ रहा है चाहे आरोप करके अथवा बिना विचारके, वह सब सम्यक नय है ।

तद्गुणसंविज्ञानः सोदाहरणः सहेतुरथ फलवान ।
यो हि नयः स नयः स्याद्विपरीतो नयो नयाभासः ॥५६१॥

नय और नयाभासका स्वरूप—जो तदगुण सम्विज्ञान हो अर्थात् गुण गुणीके भेद पूर्वक किसी वस्तुके विशेष गुणको उस हीमे बताने वाला हो, उदाहरण सहित हो, हेतु सहित हो, जिसका कोई फल हो वही नय नय कहलाता है । जैसे सद्-भूत असदभूत व्यवहारनयमे भी जो कुछ कहा गया है वह गुण गुणीके भेद करके वस्तुके ही गुण अथवा पर्यायको कहा गया है और उसका उदाहरण मौजूद है । जीव का गुण ज्ञान है, क्रोधादिकभाव जीवके हैं ऐसे सर्व उदाहरण भी हैं और उन नयो की प्रवृत्तिका कोई कारण भी है । अतदभूत व्यवहार क्यो बना ? क्या देखा, कैसी दृष्टिकी जिससे इस नयकी निष्पत्ति हुई है, इसी प्रकार सभी नयोके सम्बन्धमे हेतु भी बताया है जिसका कि विस्तार पूर्वक वर्णन पहिले ही किया है और उनका फल भी बताया है । प्रत्येक नयके व्यवहारसे जीव कुछ न कुछ शिक्षा ग्रहण करना ही है जैसे सदभूत व्यवहारमे यह समझा कि जो गुण गुणीके भेद पूर्वक बताया जा रहा है वह समझनेके लिए है कि वस्तु किस स्वरूपमे है किन्तु परमार्थत. वस्तुमे गुण गुणी

का भेद नहीं पडा हुआ है। जहाँ असदभूत व्यवहारनयका व्यवहार हुआ है वहाँ यह फल बताया गया है कि समझने वाले पुरुष वहा यह समझ लेते है कि ये क्रोधादिक भाव हो तो रहे हैं जीवमें तो है विभाव परिणमन परन्तु कर्मोदय उपाधिके सन्निधान से हुए हैं अतएव औपाधिक भाव हैं, वे ग्रहण करने योग्य नही हैं, उनसे निराला जो सहज ज्ञान स्वरूप है वही ग्रहण करने योग्य है। ऐसी ज्योति इस नयको प्राप्त होती है। तो यो उनका फल भी है तो जहाँ उस हीका गुण उसमे बताया जाय जिसके उदाहरण हो जिसके हेतु हो, जिसके फल हो, वही नय नय कहलाता है, इन बातोंसे उल्टा जहाँ धर्म पाया जाय या उल्टी बात पायी जाय वह सब नयाभास कहलाता है और जहाँ अन्य पदर्थका गुण अन्यमें बताया जा रहा हो, जिसको सही समझानेके लिए प्रकटमे कोई उदाहरण न मिलता हो जिसकी प्रवृत्तिमे कोई वास्तविक हेतु न हो और जिसका फल भी कुछ न हो, बल्कि हितके बजाय अहितकी ओर जाय भागे, ऐसी जहाँ बातें पायी जायें वे भी नयाभास कहलाती हैं

फलवत्त्वेन नयानां भाव्यमवश्यं प्रमाणवद्धि यतः ।
स्यादवयविप्रमाणं स्युस्तदवयवा नयास्तदंशत्वात् ॥५६२॥

प्रमाणकी भाँति नयोमे भी फलवत्त्व—इस गाथामे यह बतला रहे हैं कि जिस तरह प्रमाण फल सहित होता है उसी प्रकार नयोका भी फल सहित होना अत्यन्त आवश्यक है। इसका कारण यह है कि प्रमाण तो अवयवी है, नय अवयव कहलाता है। यदि नयोका कोई फल नही है तब प्रमाण भी फल रहित बन जायगा। परन्तु ऐसा है ही नही। प्रमाण सब फलवान हैं, हेय वस्तुको त्याग दें, उपादेय वस्तु को ग्रहण करें, उपेक्षा योग्य वस्तुकी उपेक्षा करें ये सब फल उसमे निहित हैं अतएव प्रमाण फल सहित ही है। इसी प्रकार नयोका भी फल सहित होना अति आवश्यक है और सम्यक नयोके स्वरूपके वर्णनके प्रसङ्गमे भली भाँति यह बता भी दिया गया कि इन नयोका क्या फल है ? नयोंकी उत्पत्तिमे मूलकारण प्रमाण है। अर्थात् प्रमाणसे ग्रहण किए गए वस्तुमे ही तो अशका परिज्ञान करना नय कहलाता है। प्रमाणका जो पदार्थ कहा जाता है उस हीके एक अशको लेकर भेद दृष्टिसे जो पदार्थ का विवेचन होता है उस हीका नाम तो नय है, या यो कह लीजिए कि सम्पूर्ण पदार्थ को तो विषय करने वाला प्रमाण है और उसके एक देशको विषय करने वाला नय है। तो यो नय तो अशरूप हुआ और प्रमाण अशीरूप हुए। तो अश अशीरूप होनेसे यह मानना पडेगा कि प्रमाणके समान नय भी फल सहित होता है।

तस्मादनुपादेयो व्यवहारोऽतद्गुणे तदारोपः ।
इष्टफलाभावादिह न नयो वर्णादिमान् यथा जीवः ॥५६३॥

अतद्गुणारोपमे नयाभासताका निर्णय—जिस वस्तुमे जो गुण नही है उस वस्तुमे अन्य वस्तुका गुण जब आरोपित किया जाय या दूसरी वस्तुके गुण दूसरे वस्तुमे रख देनेकी विवक्षाकी जाय तो वहाँ ऐसा व्यवहार किया जाता है जो व्यवहार ग्रहण करने योग्य नही है, क्योकि उस व्यवहारसे कुछ भी हितकी प्राप्ति नही होती, जैसे प्रस्तुत शङ्काको ही ले लीजिये जीवको रूप रङ्ग वाला बता देना उसमे कौन सा हित मिल जायगा ? हितकी तो बात क्या, ऐसा सुनकर लोग जीव और पुदगलको एक ही समझने लगेंगे। पुदगलसे निराला जीव है उसकी पहिचानमें उनका कोई आधार न उत्थान और शान्तिका उपाय खतम हो गया क्योकि अन्य वस्तुके गुण किसी अन्य वस्तुमे रखे जा रहे हैं ऐसे प्रयासको सम्यकनय नही कहा गया। वह व्यवहार मिथ्यानय है। तो भले ही ऐसे प्रसङ्गोमे जहाँ कि दूसरी वस्तुके गुण दूसरीं वस्तुमें रखे जानेका प्रयास हुआ, विवक्षा हुई, नय कह लीजिए, पर वह नय नय नही है किन्तु नयाभास है, ऐसा नयाभास हितार्थी पुरुषोको ग्रहण न करना चाहिए। इस कारण अतदगुणारोपका व्यवहार सम्यक व्यवहार नही है।

ननु चैव सति नियमादुक्तासदभूतलक्षणो न नयः।
भवति नयाभासः किल क्रोधादीनामतद्गुणारोपात् ॥५६४॥

अतद्गुणारोपके कारण असद्भूतव्यवहारनयमे नयाभासताके प्रसगकी आशङ्का—अब यहाँ शङ्काकार कहता है कि यदि एक वस्तुके गुण दूसरे वस्तुमे आरोपित करनेका नाम नयाभास रख दिया जायगा तो इस प्रकारसे तो जो अभी ऊपरके प्रकरणमे असदभूत व्यवहारनयकी बात कही गई है उसे भी नयाभास कह देना चाहिए। वह भी नय नही हो सकता, इसका कारण यह है कि असदभूत व्यवहार का विषय यह ही तो बताया कि क्रोधादिक भाव जीवके नही हैं, फिर भी उनके क्रोधादिकको जीवके कहा गया है। तो जो असदभूत है, जो जीवके गुण नही हैं उनको जीवमे आरोपित किया ऐसी ही बात तो शङ्कामे भी तो नयाभास बता रहे थे कि जिसके जो गुण नही हैं वे गुण उसमे आरोपित करे उसे नयाभास कहते है, तो असदभूत व्यवहारनयमे यही तो किया गया है। क्रोधादिक जीवके गुण नही हैं फिर भी जीवके बताये गए हैं तो ये भी अतदगुणरूप हैं। अतदगुणरूपका अर्थ यह है कि उसके गुण तो हैं नही, पर उन गुणोका आरोप उसमे किया गया है। जैसे जीव वर्णादिमान है ऐसा बतानेपर यह आपत्ति दी थी कि वर्णादिक जीवके गुण तो हैं नही फिर भी वर्णादिकको जीवके कहना यह नयाभास है, ऐसे ही यहाँ लगा लीजिए कि क्रोधादिक भाव जीवके गुण तो हैं नही, फिर भी उन्हे जीवके कहा गया है। तो यह भी तो उत्तर गुणरूप ही रहा, इस कारण ग्रन्थकारका कहा हुआ जो असदभूत व्यवहारनय है वह भी नयाभास हो जायगा, तो उसे नयाभास बचानेके लिए कोई तरकीब

लगाना हो तो उस ही तरकीबमे जीव वर्णादिमान है यह भी नय बन जायगा। तो अतदगुणारोपको नयाभास नही कह सकते। यदि कहेंगे तो असदभूत व्यवहारनय भी नयाभास बन जायगा। अब इस शङ्काके समाधानमें कहते हैं।

नैवं यतो यथा ते क्रोधाद्या जीवसंभवा भावाः।

न तथा पुद्गलवपुषः सन्ति च वर्णादयो हि जीवस्य ॥५६५॥

जीव विभावोमे तद्गुणारोपका कथन करते हुए उक्त शकाका समाधान—समाधानमे कह रहे हैं कि शङ्काकारका उपयुक्त कहना सङ्गत नहीं है क्योंकि क्रोधादिक भाव जिस तरह जीवसे उत्पन्न हैं अथवा जीवके परिणमन हैं उस तरह वर्णादिक जीवके भाव नही हैं। न जीवसे उत्पन्न हुए हैं न जीवके परिणमन है। तो जीव वर्णादिमान है। इस नयाभासकी तुलनामे क्रोधादिक भाव जीवके हैं, इनका रखना सङ्गत नहीं है। क्रोधादिक भाव तो जीवके यो नहीं हैं कि क्रोधादिक भाव औपाधिक भाव हैं। कर्मोदयका निमित्त पाकर उत्पन्न हुए भाव हैं इस जीवके परिणमन, पर जीवके सहज स्वभावसे ही उत्पन्न नहीं हुए। उपाधिका निमित्त पाकर हुए हैं, इस कारण क्रोधादिक भाव जीवके नही हैं। तो जिस तरह क्रोधादिक जीवके परिणमन होकर भी जीवके नही बताये, इस तरह यह गु जाइस नही है कि जीवके वर्णादिक परिणमन हुए, क्योकि वर्णादिक सयोगसे पुदगलके ही गुण हैं अन्य किसी भी द्रव्यके गुण नही हैं, रूप, रस, गंध, स्पर्श ये चारों गुण पुदगलमे ही होते हैं। पुदगलके सिवाय अन्य किसी द्रव्यमे नही होते। तो जब वर्णादिकका जीवमे अत्यन्ताभाव है, उनका जीवमे प्रवेश ही नहीं है तब वर्णादिकको जीवके बताना किसी भी प्रकार नय नही हो सकता। क्रोधादिक जीवके चारित्रगुणके विकार हैं। ये पुदगल कर्मके निमित्त से उत्पन्न हुए हैं। इन विकारोको उन उन नामोंसे कहा जाता है जिन जिन नामोंकी वे उदित प्रकृतियां है। तो चूंकि पुदगल कर्मके उदयका निमित्त पाकर हुए हैं आत्माके चारित्र गुणके विकार इस कारण क्रोधादिक भाव आत्माके ही वैभाविक भाव हैं, वे पुदगलके भाव नही हैं। भले ही कर्मोदयका निमित्त पाकर हुए हैं, पर क्रोधादिकके भाव द्रव्य कर्मके परिणमन नही हैं। परिणमन तो जीवके ही हैं और हैं चारित्रगुणके विकार, इस कारणसे जीवमे उन क्रोधादिक भावोका आरोप करना यह अतदगुणरूप नही कहा जा सकता। जीवमें विकार परिणमन हैं। जिस कालमें ये क्रोधादिक कषायें उत्पन्न हुई उस कालमे जीव क्रोधादिकमय है। इस कारण यदि क्रोधादिक भावोका जीवमे आरोप किया गया है तो वह तदगुणारोप ही है। असदभूतनयका विषय तो इस कारण कहा जाता है इसे कि ये क्रोधादिक भाव शुद्ध आत्माके नहीं हैं। आत्माके सहज स्वभावसे ही व्यक्त नही हैं, किन्तु परका निमित्त पाकर व्यक्त हो जाते हैं। इस कारण क्रोधादिक विकारोको असदभूत नयका विषय कहा जाता है। कोई भी

अस्ति व्यवहारः किल लोकानामयमलब्ध बुद्धित्वात् ।
योऽयं मनुजादिः पुर्भवति सजीवस्ततोप्यनन्यत्वात् ॥५६७॥

लोकव्यवहारमे नयाभासताकी संभवता—बहुतसे लोग यह व्यवहार करते हैं कि जो मनुष्यादिकके शरीर हैं यही जीव है, शरीरको ही निराधार यह

जीव है ऐसा समझते हैं, और लोग किसीका परिचय मानते हैं कि मझे तो बहुत परिचय है। तो किसका परिचय है? शरीरके आकारोका, रङ्ग, ढङ्गका, क्रियाका व्यवहारका। और, देखो इन्द्रियसे समझमे आया, ऐसे ही पदार्थको तो लोग परिचित मानते हैं। तो जो यह शरीर है सो जीव है ऐसा लोगोमा व्यवहार चलता है यह व्यवहार बुद्धिका अभाव होनेसे चलता है। पदार्थके स्वरूपका यथार्थ बोध है नही, तो जो सत्यबुद्धि है उसकी प्राप्ति तो हो नही सकती। तब अपने आपका मानना तो रहेगा ही अपने आपका अस्तित्व कौन मेटेगा और कौन मना करेगा, किन्तु जब अपने आपके सही स्वरूपका पता नही है तो परमे मात्म बुद्धि करेंगे ही। इसे शरीरोको जीव कहना यह व्यवहार मिथ्या है, नयाभास है, ऐसा व्यवहार करने वाले लोग यो समझते हैं कि इस शरीरसे निराला कुछ जीव है ही नही। इस शरीरसे निराले जीव को किसीने अब तक देखा ही नही, न कभी कोई दिखा ही सकता है, और बात भी यह यथार्थ है कि इन्द्रियके द्वारा यह जीव जो शरीरसे निराला है वह समझमें आ ही नही सकता। और लोगोने इन्द्रियको ही समझनेका एक मात्र साधन समझा है। तो जब इन्द्रियसे जीवरूप तो दिखा नही, दिखा शरीर और जीवको मना किया नही जा सकता। जो ज्ञानरूपसे व्यवहार कर रहा ऐसे उस तथ्यको मूलसे कैसे कोई मना कर सकता है? तो ऐसी स्थितिमें जब कि बुद्धि नही पायी तो लोगोंका यह व्यवहार बन गया कि जो यह शरीर है सो ही जीव है, क्योकि यही जीवसे अभिन्न हैं। इससे निराला कोई जीव जीव नही है ऐसा व्यवहार तो करते हैं लोग, किन्तु यह व्यवहार मिथ्या है? कैसे यह व्यवहार मिथ्या है इसका वर्णन अगली गाथामे करते हैं।

सोऽयं व्यवहारः स्यादव्यवहारो यथापसिद्धान्तात्।
अप्यपसिद्धान्तत्वं नासिद्धं स्यादनेकधर्मित्वात् ॥५६८॥

देहमे जीवत्वबुद्धिके व्यवहारका मिथ्यापन—लोगोका यह व्यवहार कि जो यह शरीर है सो ही जीव है यह अयोग्य व्यवहार है, अनुचित है, असत्य है, अथवा ऐसा व्यवहार करते हैं। क्यो है यह अयोग्य व्यवहार? इसका कारण है कि यह सिद्धान्तसे विरुद्ध है जो कुछ लोग सोच रहे हैं कि यह शरीर ही जीव है। तो यह सच्चाईसे रहित है इस व्यवहारमे सिद्धान्तका विरोध है, क्योंकि शरीर और जीव ये भिन्न भिन्न धर्मी हैं। अनेक धर्मी हैं, अनेक वस्तु हैं। एक पदार्थ नही हैं, इनका द्रव्य क्षेत्र काल भाव न्यारा न्यारा है। तो ऐसी स्थितिमे ये दोनो भिन्न भिन्न प्रसिद्ध ही हैं। और, जब शरीर पुद्गल द्रव्य है वे भिन्न पदार्थ हैं जीव द्रव्य भिन्न पदार्थ हैं, फिर भी लोग शरीरमे जीवका व्यवहार करते हैं कि यह जीव है वे सिद्धान्तसे विरुद्ध प्रतिपादन करते हैं यह शरीर क्या है? अनन्त परमाणुओंका पुञ्ज। सभी परमाणु जड हैं, रूप रस, गंध स्पर्शवान हैं, यह शरीर भी जड है। रूप, रस, गंध, स्पर्श

वाला है किन्तु जो समझ सके समझनेकी वृत्ति जहाँ बनेगी वह मूर्त नही हो सकता, वह अमूर्त ही होगा। तो यो शरीर जड है, जीव चेतन है, शरीर वर्णादिमान है, जीव अमूर्त है, ऐसे प्रकट भिन्न भिन्न पदार्थोंको एकमेक करनेकी बुद्धि यथार्थ कैसे हो सकती है ? वह सब सिद्धान्त विरुद्ध ही बात है।

नाशङ्क्यं कारणमिदमेकक्षेत्रावगाहिमात्रं यत् ।
सर्वद्रव्येषु यतस्तथावगाहाद्भवेदतिव्याप्तिः ॥५६९॥

एक क्षेत्रावगाह होनेपर भी देहसे जीवकी विविक्तता—शरीर और जीवके सम्बन्धके प्रसङ्गमे कोई ऐसी आशङ्का कर सकता है कि जब शरीर और जीव एक क्षेत्रावगाही हैं और एक क्षेत्रावगाही होनेका लोकमे व्यवहार होता है, यह शरीर ही जीव है तो ऐसी आशङ्का भी न करना चाहिए क्योकि एक क्षेत्रावगाही होनेसे कही पदार्थ एक नही बन जाता। देखो एक क्षेत्रमे ही सर्व द्रव्य रह रहे हैं। लोकाकाशके प्रदेशपर छहो द्रव्य रहते हैं। धर्म द्रव्य तो निश्क्रिय और लोकमे व्यापी है। वह तो सदा लोकाकाशमे व्यापकर रह रहा है, उसका तो किसी प्रदेशमे अभाव हो ही नही सकता। यही बात अधर्म द्रव्यकी है। अधर्म द्रव्य भी लोकाकाशमे व्यापक है, उसका भी कही अभाव नही हो सकता। आकाश द्रव्य तो लोकाकाशमे है। और उससे परे अनन्त अलोकाकाशमे हैं। वह तो एक अखण्ड है ही। अब जितने आकाश मे धर्मादिक छहो द्रव्य हैं उनका नाम लोकाकाश रख दिया गया। तो आकाश भी सर्वत्र मिलगा। पुदगल भी सूक्ष्म स्थूल आदिक जिस किसी भी प्रकारसे इस लोकाकाशके सर्व प्रदेशोमे मिलेगा। काल द्रव्य लोकाकाशके एक एक प्रदेशपर एक एक कालाणु रूप है ही और जीव इतने अनन्त हैं कि लोकाकाशके प्रत्येक प्रदेशमे अनन्त जीव पाये जाते हैं। तो लो यो एक क्षेत्रावगाही सभी द्रव्य हो गए, लेकिन क्या सब एक हो गए ? यदि एक क्षेत्रावगाही होनेसे एक मान लिए जायेंगे तो यहाँ अतिव्याप्ति दोष उत्पन्न होगा। छहो द्रव्य एक क्षेत्रमे रह रहे हैं लेकिन एक नही हैं। छहोंके लक्षण जुदे जुदे हैं, जीवका लक्षण चेतन है, पुदगलका लक्षण मूर्तपना है, याने रूप, रस, गध स्पर्शमय होना धर्मद्रव्यका लक्षण गति हेतुत्व है। उसकी सत्ता इन सबसे निराली है। अधर्मद्रव्य भी स्थिति हेतु है, इसकी भी सत्ता शेष पाचो प्रकारके द्रव्यो से निराली है। आकाश द्रव्य भी अवगाहन हेतुक है। उसका उसमे ही परिणमन है, वह भी सर्व पदार्थोंसे निराला स्वरूप रखता है कालद्रव्य परिणमनका कारण है। देखिये ! लक्षण जुदे जुदे हैं। यदि एक क्षेत्रावगाह होनेसे एकत्व बन जाय तो इन छहोमे अति व्याप्ति दोष आयेगे। ये सब एक हो जायेंगे तो कुछ भी न रहेगा, शून्यता हो जायगी, कोई द्रव्य ही न कहलायगा। अत. एक क्षेत्रावगाही हैं जीव शरीर, इस कारणसे जीव और शरीरको एक बताना असगत बात है। यो जीव वर्णादिमान है

यह अभिप्राय नय नहीं कहला सकता, किन्तु नयाभास ही है ।

अपि भवति बन्ध्यबन्धकभावो यदि वानयोर्न शङ्क्यमिति ।
तदनेकत्वे नियमात्तद्बन्धस्य स्वतोप्यसिद्धत्वात् ॥५७०॥

जीव और देहके एकत्वसिद्धिके लिये बन्ध्यबन्धक भावकी अकारणता कोई शङ्काकार ऐसी भी शङ्का रख सकता है कि जीव और शरीरमें परस्पर बन्ध बन्धक भाव है इसी कारण यह व्यवहार करना ठीक है कि शरीर ही जीव है। शरीर जीव है ऐसा समझनेका कारण तो है ना कि जीव और शरीरका परस्परमें बध बधक भाव है इसी कारण शरीर जीव है ऐसा व्यवहार होता है। समाधानमें कहते हैं कि यह शङ्का ठीक नहीं है क्योंकि बध बधक भावका बताना तो और पुष्ट करता है इस बातको कि शरीर और जीव न्यारे न्यारे हैं क्योंकि बध नियमसे अनेक पदार्थोंमें होता है। एक ही पदार्थमें अपने ही आपसे बधकी बात असिद्ध है। तब कहा जाता कि आत्मा पुदगलको बाँधने वाला है अथवा आत्मासे बँधने वाला पुदगल है इस कारण पुदगल शरीर बध है और आत्मा उसका बधक है ऐसा बध बधक सम्बध होनेसे शरीरमें जीवका व्यवहार किया जाता है। यह शङ्का सङ्गत नहीं है। बध तो तभी होता जब दो पदार्थ प्रसिद्ध हों। एक पदार्थ बधने योग्य है एक पदार्थ बांधने वाला है, तो बध बधक भाव बतानेसे स्पष्ट रूपसे द्वैत ही प्रतीत होता है। अत. बध बधक भावकी बात बताकर भी शरीर और जीवमें एकत्व सिद्ध नहीं किया जा सकता।

अथ चेदवश्यमेतन्निमित्तनैमित्तिकत्वमस्ति मिथः ।
न यतः स्वयं स्वतो वा परिणममानस्य किं निमित्ततया ॥५७१॥

जीव और कर्मके एकत्वकी सिद्धिके लिये निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध की अकारणता—अब शङ्काकार ऐसी भी शङ्का कर सकता है कि शरीर ही जीव है, ऐसी बुद्धि बननेका कारण यह है कि शरीर और जीवका निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। यों निमित्त नैमित्तिक सम्बन्धके कारण शरीरमें जीवत्व बुद्धि बनती है। समाधानमें कहते हैं कि यह कहना भी सगत नहीं है। क्योंकि निमित्त नैमित्तिक भाव बतानेमें भी तो दो पदार्थ सिद्ध हो जाते हैं, फिर एकत्व कहाँ रहा ? जो नैमित्तिक भाव है उसका अर्थ यही तो है कि किसी पदार्थका निमित्त पाकर कोई नैमित्तिक पर्याय हुई है। तो नैमित्तिक पर्याय जिस वस्तुमें हुई है वह वस्तु स्वयमें भाव रूप परिणमन रहा है और उसमें जीव अलग पदार्थ है। जैसे कहा जाय कि कर्मके उदय के निमित्तसे क्रोध हुआ है तो निमित्त कहते ही यह बात स्पष्ट सिद्ध हो गयी कि कर्म

जुदे पदार्थ है और क्रोध जहाँ हुआ है वह जुदा पदार्थ है। परिणमता हुआ ही जीव क्रोध रूप हुआ। तो जो परिणमन रहा है पदार्थ वह भिन्न है और निमित्तभूत पदार्थ भिन्न है। तो निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध तो शरीरमे निमित्तताका सूचक है और जीव मे नैमित्तताका सूचक है, तो यह सम्बन्ध दोनोमे एकत्व बुद्धिको उत्पन्न करने वाला न बन सका। क्योंकि जीव अपने स्वरूपसे ही परिणमन करता है। निमित्त कारणके निमित्तसे उसमे पररूपता नही आती इस लिए मनुष्यादिकके शरीरमे जीव यह व्यवहार करना नयाभास है। नयाभासके कुछ उदाहरण यहाँ बताये जा रहे है जिनमे उक्त ५ गाथाओमे प्रथम नयाभासकी बात कही गई है कि शरीर ही जीव है ऐसा जो लोगोका व्यवहार है वह व्यवहार नयाभास कहलाता है। अब दूसरा नयाभास अगली गाथामे कह रहे हैं।

अपरोपि नयाभासो भवति यथा मूर्तस्य तस्य सतः।
कर्त्ता भोक्ता जीवः स्यादपि नो कर्मकर्मकृतेः ॥५७२॥

जीवको कर्म नो कर्मका कर्ता बतानेरूप द्वितीय नयाभासका निर्देश— दूसरा नयाभास यह बतला रहे हैं कि जीव मूर्तकर्म और नो कर्मका कर्ता है। इस नयाभासका स्पष्टीकरण यह है कि आहार वर्गणायें भाषा वर्गणायें, तैजस वर्गणायें और मनो वर्गणायें ये चार प्रकारकी वर्गणाये जब जीवसे सम्बन्धित हो जाती है तब इसीको नोकर्म कहा जाता है। जीवके सम्बन्धसे पहिले इसका नाम नोकर्म नही है, जब जीवसे सम्बन्धित हो लेती है ये चारो वर्गणाये तो ये नोकर्म कहलाने लगती हैं और कार्माण वर्गणायें जब आत्मसे सम्बन्धित होकर कर्मरूप परिणत हो जाती हैं तब कर्मके निमित्तसे कही जाती है। कर्मरूप परिणत होनेसे पहिले ये कर्म नही कहलाते, किन्तु इनका नाम रहेगा कार्माण वर्गणा जो कर्मरूप हो सकने की योग्यता रखती है ऐसी वर्गणाये स्कंध, अब ये कर्म और नोकर्म चूं कि शरीर वर्गणाकी पर्याये हैं। और वे वर्गणाये पुदगल है अतएव मूर्त है। तो उन मूर्त वर्गणाओका जो परिणमन है ऐसे कर्म और नोकर्म भी मूर्त है, ऐसे मूर्त कर्म नोकर्मका जीव कर्ता है तथा भोक्ता है, ऐसा कथन करना यह द्वितीय नयाभास बताया जा रहा है। जीव अमूर्त स्वरूप है, उसमे रूप रस, गंध स्पर्श आदि नही है और यह जीव ज्ञानादिक भावोका ही कर्ता भोक्ता हो सकता है। जो जीवमे पाये जाये उन्हीका ही तो यह कर्ता भोक्ता होगा। अब उसको ज्ञानादिक भावोका कर्ता भोक्ता कहना यही व्यवहार है। पर मूर्त कर्म मूर्त नोकर्म जो अत्यन्त भिन्न पदार्थ है ऐसे पदार्थोंका कर्तृत्व और भोक्तृत्व जीवके लगाना यह नय नही, किन्तु नयाभास है।

नाभासत्वमसिद्धं स्यादपसिद्धान्ततो नयस्यास्य।
सदनेकत्वे सति किल गुण संक्रातिः कुतः प्रमाणाद्वा ॥५७३॥

गुण संक्रान्तिमृते यदि कर्ता स्यात्कर्मणश्च भोक्तात्मा ।
सर्वस्य सर्वसंकरदोषः स्यात् सर्वशून्यदोषश्च ॥५७४॥

उक्त द्वितीय नयाभासकी नयाभासताका कारण—मूर्त कर्मोंका जीव कर्ता भोक्ता है ऐसा कथन नयाभास ही कहलाता है। इसका स्पष्टीकरण इन दो गाथाओंमे है। मूर्त कर्मोंका जीव कर्ता भोक्ता है, यह कथन नयाभास है क्योंकि यह व्यवहारनय सिद्धान्तके विरुद्ध है। सिद्धान्तका यह नियम है कि एक पदार्थके गुण दूसरे पदार्थमे संक्रान्त नहीं होते। जब कर्म और जीव दोनो भिन्न भिन्न पदार्थ हैं तब उनमें गुण संक्रमण किस प्रमाणसे होगा ? अर्थात् गुण सक्रमण नही हो सकता तथा गुणोका परिवर्तन हुए बिना जीव कर्मका कर्ता भोक्ता नही हो सकता। कर्ता भोक्ता का अर्थ तो यह है कि उस रूप परिणमन करना सो कर्तृत्व है, उस रूप अनुभवन होना सो भोक्तृत्व है। सो कर्ता भोक्ता गुणोंकी संक्रान्तिमें नहीं होता वह तो स्वय एक पदार्थमे होता है। यदि गुणोकी सक्रान्तिके बिना ही जीव कर्मका कर्ता भोक्ता हो जाये तो इसका प्रभाव यह होगा कि सर्व पदार्थोंमे संकर दोष हो जायगा तथा सर्व शून्य दोष भी उत्पन्न हो जायगा। इन दो गाथाओंका तात्पर्य यह है कि यदि जीवके गुण पुद्गलमे चले जायें तभी तो यह कहा जा सकेगा कि जीव पुद्गलका कर्ता और भोक्ता है। जैसे कपडा बुनने वालेके गुण कपडेमे आ जायें तभी वह वास्तव मे बुनने वाला उस कपडेका कर्ता कहा जा सकता है अन्यथा कपडेमे कर्तृत्व आया ही क्या ? सो बात यह नही है। कर्तृत्व नही है। कपडेका भी कर्ता जुलाहा नही किन्तु कपडेके कर्तृत्वमे जुलाहा निमित्त है। कर्ता वह कपडा ही है। जो परिणमे उसे कर्ता कहते हैं, ऐसे ही कार्माण वर्गणायें कर्मरूप परिणमती हैं सो उन पर्यायोका कर्ता तो कार्माण पुदगल ही हैं। जीव तो वहाँ निमित्त मात्र है सो गुणोका सक्रमण एकका दूसरेमे होता नही तब एकको दूसरेका कर्ता कहा नहीं जा सकता। यदि गुणोंका सक्रमण हुए बिना जीवको कर्मका कर्ता मान लिया जाय तो यही जीव क्यो कर्ता हो सभी जीव क्यो न कर्ता हो जायेंगे ? तो यो सभी पदार्थ एक दूसरेके कर्ता हो सकते हैं। ऐसी अवस्थामे धर्मादिक द्रव्योका भी जीवमे कर्तृत्व सिद्ध होगा। तब फिर विश्वमे सर्व साकर्य दोष हो जायगा। अब अगली गाथामे यह बताते हैं कि लोगो को यह भ्रम क्यो हो गया कि जीव कर्मका कर्ता है ? इस भ्रमका कारण स्पष्ट करते हैं।

अस्त्यत्र भ्रमहेतुर्जीवस्याशुद्धपरणतिं प्राप्य ।
कर्मत्वं परिणमते स्वयमपि मूर्तिमद्यतो द्रव्यम् ॥५७५॥

जीवके कर्म कर्तृत्वके भ्रमका कारण जीव विभावका निमित्तपना—

जीव कर्मोंका कर्ता है, इस भ्रमका कारण भी यह है कि जीवकी अशुद्ध परिणतिके निमित्तसे पुद्गल द्रव्य कार्माण वर्गणायें स्वयं कर्मरूप परिणम हो जाते है। तो यहाँ निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध दिखाना, बस इस ही बातको बढ़ाकर लोग जीव कर्मोंका कर्ता है ऐसा कह देते हैं। कर्म और जीव भावमे परस्पर निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। जैसे जीव कर्मका कर्ता है यह बात लोग निमित्तक सम्बन्ध दिखाकर कह डालते हैं ऐसे ही यह भी कह सकते हैं लोग कि पुद्गल कर्म जीवका कर्ता है क्योकि पुद्गल कर्मके निमित्तसे जीवमे विभाव उत्पन्न होते है। तो यो परस्पर एक पदार्थको दूसरे पदार्थका कर्ता कहनेका जहाँ लोकमे व्यवहार बन रहा हो तो समझना चाहिए कि निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। उसको ही बडा रूप देकर कर्ता है इस रूपसे व्यवहार करते है। वस्तुत यह भ्रम भ्रम ही है, वास्तविकता नही है और वहाँ केवल निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध माना जिसका स्पष्ट अर्थ यह है कि वे पदार्थ दोनो पृथक स्वतत्र स्वतंत्र पदार्थ हैं।

इदमत्र समाधानं कर्ता यः कोपि सः स्वभावस्य।
परभावस्य न कर्ता भोक्ता वा तन्निमित्तमात्रेपि ॥५७६॥

निमित्तत्व होनेपर भी किसीमे भी परके कर्तृत्व व भोक्तृत्वका अभाव उक्त भ्रमके कारणको ही एक समाधान रूपसे कह रहे है कि जो कोई भी कर्ता होगा वह अपने ही भावोका कर्ता होगा। उसका कुछ भी निमित्त कारण हो फिर भी वह पदार्थ या निमित्त भूत पदार्थ किसी परके भावका कर्ता और भोक्ता नही हो सकता। कर्मके उदयके निमित्त सन्निधानमे जीवके विकारभाव हो गए लेकिन कर्म जीवके विभावका कर्ता नही कहलाये। वे निमित्त हुए। कर्ता तो वह कहलाता है जो स्वय उस पर्याय रूपमे परिणमन जाता है। इसी प्रकार जीवके रागद्वेष भावोका निमित्त पाकर कार्माण वर्गणायें कर्मरूप परिणम गई, पर इसके मायने यह नही हुआ कि जीव उन कार्माण वर्गणाओका कर्ता भोक्ता हो जायगा। अब इस ही विषयमे दृष्टान्त दे रहे है।

भवति स यथा कुलालः कर्ता भोक्ता यथात्मभावस्य।
न तथा परभावस्य च कर्ता भोक्ता कदापि कलशस्य ॥५७७॥

परके कर्तृत्व व भोक्तृत्वके अभावका सोदाहरण कथन—जैसे कि कुम्हार अपने ही भावोका कर्ता होता है वह पर भावोका यानि कलशका कर्ता या भोक्ता कभी नही हो सकता। कलशके बनानेमे वह कुम्हार केवल निमित्त कारण है। तो निमित्त मात्र होनेसे निमित्त भूत पदार्थ अन्यका कर्ता भोक्ता नही कहा जा सकता।

जिस समय कुम्हार अपने हाथका व्यापार कर रहा है उस तैयार मिट्टीके निकट तो उसके हस्त व्यापारका निमित्त पाकर उसके अनुकूल मिट्टीमे घटाकर रूप परिणमन हो जाता है। तो परिणम कौन रहा ऐसी निगाह करके देखें तो कर्तव्यपनका समाधान प्राप्त हो जाता है। परिणम रहा वह स्वयं मिट्टी द्रव्य तो कलशका कर्ता वास्तवमे मिट्टी है और कुम्हार अथवा दड चक्र आदिक ये निमित्त मात्र हैं। अब उन निमित्तोमेसे उनकी विशेषता निरख करके यह भेद भले ही कर दिया जाय कि कोई उदासीके निमित्त है कोई प्रेरक। जैसे कुम्हार प्रेरक निमित्त है दड चक्र उदासीन निमित्त है, लेकिन जब दोनो पदार्थोंके स्वरूप और उनकी पर्यायोपर दृष्टि देते है तो सभी उदासीन निमित्त सिद्ध होते हैं। कुम्हारने हस्त व्यापार ही तो किया। उनसे आगे उसका कोई अंश वहाँ नही गया, अतएव वह भी वहाँ उदासीन निमित्त है। तब यो वास्तवमे कुम्हार घटका कर्ता भोक्ता नही है किन्तु उसमे निमित्त नैमित्तिक कारण है, ऐसे ही कर्मोदयसे रागद्वेष हुए, रागद्वेषके निमित्तसे कर्म बन्ध हुए तो वहाँ भी वस्तुत. जीव कर्मोंका कर्ता नही है और कर्म जीवके विभावोका कर्ता नही है।

तदभिज्ञानं च यथा भवति घटो मृत्तिका स्वभावेन ।
अपि मृण्मयो घटः स्यान्न स्यादिह घटः कुलालमय ॥५७८॥

परके कर्तृत्व व भोक्तृत्वके अभावका अयुक्तिक प्रतिपादन कुम्हार घडेका कर्ता क्यो नही है इस विषयमे यह दृष्टान्त बिलकुल स्पष्ट है कि घट तो मिट्टी के स्वभावरूपसे होता है याने मिट्टी स्वरूप ही घडा होता है। वह घडा कभी भी कुम्हारके स्वभाव वाला नही बन जाता याने घट मृत्तिका स्वरूप है, कुम्हार स्वरूप नहीं है। तो जब यो घटके अन्दर कुम्हारका एक भी गुण नही पाया जाता। कुम्हार का द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, चेष्टा प्रभाव सब कुछ कुम्हारमे है और घडेका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव प्रभाव उस मिट्टीमे है तो अब यह बतलाओ कि कुम्हारने घडेका क्या किया ? कुछ भी नही किया। कुम्हार तो केवल घटकार्यमे निमित्त मात्र है। कुम्हारने इच्छा की, चेतन है इस लिए उसने अपने अधिकार पूर्ण दावा रखा, अपनी कलापर गर्व किया, इतने पर भी कुम्हारने मिट्टीमे कुछ नहीं किया। जो कुछ किया सो खुद ही मे किया अब इससे जान गए होंगे कि जब घट भिन्न पदार्थ है, कुम्हार भिन्न पदार्थ है और फिर कहे कोई कि कुम्हार घटका कर्ता है तो यह तो नयाभास हुआ। नयकी कोई बात नही हुई। तो यो अतद्गुण रोपको नयाभास कहते हैं। इस सम्बन्धमे यह दूसरा नयाभास बताया गया है।

अथ चेद्घटकर्तासौ घटकारो जनपदोक्ति लेशोयम् ।
दुर्वारो भवतु तदा कानो हानिर्यदा नयाभासः ॥५७९॥

जनपदोक्तिका मिथ्यापन—यदि शङ्काकार यह कहे कि लोकमे यह व्यवहार तो होता है कि कुम्हार घडेका बनाने वाला है, तब इसमे कुछ बात तो मानना चाहिए, एकदम मिथ्या क्यो कहा जा रहा है ? इस शङ्काके समाधानमे आचार्य देव कहते हैं कि यदि ऐसा लोक व्यवहार होता है तो होने दो। उस लोक व्यवहारसे हमारे तत्त्वज्ञानमे कोई हानि नही है। होता है तो होने दो, किन्तु उस व्यवहारका नयाभास तो समझिये कि एक पदार्थ दूसरे पदार्थका कतई कर्ता नही, और माना जा रहा है कि एक दम कर्तृत्वनयने किया, मैंने बनाया मैं करूगा, मैं कर रहा हू, इस तरह कर्तृत्वके विकल्प ये अज्ञानी जन मचाये जा रहे हैं। यदि पर द्रव्य परका कर्ता है ऐसा लोक व्यवहार होता है तो होने दो वह उपचारसे मिथ्यारूपसे अथवा निमित्तका सम्बन्ध बतानेके लिए हो रहा है। वस्तुत कोई पदार्थ किसी अन्य पदार्थ का कर्ता हो नहीं सकता। इस तरह दूसरे नयाभासके सम्बन्धमे यह स्पष्ट किया गया कि जिसमे कुछ निकटता हो गयी हो ऐसे बहुत दूर रहने वाले पदार्थोंमे कर्तापनका व्यवहार करना नयाभास है। अब तीसरे नयाभासका स्वरूप कहते हैं।

अपरे बहिरात्मानो मिथ्यावादं वदन्ति दुर्मतयः ।
यदबद्धेपि परस्मिन् कर्ता भोक्ता परोपि भवति यथा ॥५८०॥

अबद्ध पर पदार्थोके कर्तृत्व भोक्तृत्व बतानेरूप तृतीय नयाभास—और, भी खोटी बुद्धि वाले पुरुष अनेक मिथ्या बातें करते हैं। तीसरे नयाभास विषयक ऐसी मति बनाते हैं कि जो पदार्थ इस ज्ञातासे सर्वथा दूर है याने जीवके साथ बधा हुआ भी नही है उसका भी कर्ता माना है जीवको कि जीव ही तो कर्ता है, परन्तु यहाँ तो मकान आदिक पदार्थ जो बिल्कुल बधे हुए भी नही हैं उनका कर्ता मानते हैं तो उन । यह अभिप्राय नयाभास है। शरीरको जीवका स्वामी मानता यह प्रथम नयाभास है। परस्पर आपमे अवगाहित हुए कर्म नो कर्मका कर्ता मानना यह दूसरा नयाभास है। अब तीसरे नयाभासकी बात कहते हैं। और भी बहिरात्मत्व बुद्धि रखने वाले अज्ञानी पुरुष ऐसी मिथ्या बातें करते है ऐसे जो परपदार्थ सर्वथा दूर हो उनका भी यह जीव कर्ता है, भोक्ता है ऐसा कहा है। यह स्पष्ट मिथ्या होनेसे नयाभास स्पष्ट रूपसे सिद्ध होता है

सद्वेद्योदयभावान् गृहधन धान्यं कलत्रपुत्रांश्च ।
स्वयमिह करोति जीवो भुनक्ति वा स एव जीवश्च ॥५८१॥

उक्त तृतीय नयाभासकी मुद्रा - उक्त प्रसङ्गमे वास्तविकता यह है कि साता वेदनीय कर्मके उदयका निमित्त सन्निधान पाकर जो ये सब मिले हुए हैं घर,

धन धान्य स्त्री पुत्रादिकके शरीर पदार्थ अथवा निर्जीव पदार्थ सर्व वैभव सम्पदा आदिक इन सबका जीव ही स्वयं कर्ता है और वही जीव उनका भोक्ता है, यह बात पूर्ण मिथ्यावादसे भरी हुई है। ये सब साता वेदनीयके उदयका निमित्त पाकर स्वयमेव आ मिले हैं, जीव इनके अस्तित्वको नही रचता है। जीव तो केवल अपने भावोका परिणमन करता है जिस किसी भी प्रकार करले। तो जीवका वहाँ न स्वामित्व है न द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावका कुछ प्रवेश है, फिर कैसे समझ लिया कि मैं इस घर धान्य आदिक सम्पत्तिका करने वाला हू अथवा भोगने वाला हू। इन बाह्य पदार्थोंके करने और भोगनेकी बात लगानेके लिए कुछ भी तो कसी गुन्जाइस नही दिखती। अत प्रकट दूर अबद्ध पदार्थका कर्ता भोक्ता मानना स्पष्ट नयाभास है। और ऐसा नयाभास ग्रहण करनेके योग्य नही है क्योकि उनके ग्रहणसे आत्माका कुछ भी हित नही है।

ननुसति गृहवनितादौ भवति सुखं प्राणिनामिहाध्यक्षात्।
असति च तत्र न तदिदं तत्तत्कर्ता स एव तद्भोक्ता ॥५८२॥

शकाकार द्वारा अबद्ध पदार्थोके कर्तृत्व व भोक्तृत्वका समर्थन—शङ्काकार कहता है कि तब यह बात प्रत्यक्ष देखी जा रही है कि जीवोको घर स्त्री, पुत्रादिकके होनेपर सुख होता है और घर स्त्री आदिक पदार्थोंके अभावमे सुख नही होता तब तो यही श्रद्धा रखना चाहिये कि जीव ही उनका कर्ता है और जीव ही उन समस्त पदार्थोंका भोक्ता है। और विश्लेषणके साथ समझना है तो समझिये कि जीव अपनी सुख सामग्रीका ही करने वाला है और अपनी ही उस सुख सामग्रीको स्वय भोगने वाला है। स्त्री पुत्रादिकके प्रसगमे जीव केवल कल्पनाय करता है और केवल भावोके अनुसार अपने उस सुख दुखको प्राप्त करता है। तो यो ज्ञानानन्द शक्तिसे विपरीत परिणमन हो रहे हैं।

सत्य वैषयिकमिदं परमिह तदपि न परत्र सापेक्षम्।
सति वहिरर्थेपि यतः किल केषाञ्चिदसुखादि हेतुत्वात् ॥५८३॥

उक्त तृतीय नयाभासके मिथ्यापनका सयुक्तिक समाधान—शङ्काकार ने जो यह शङ्काकी थी कि घर स्त्री आदिकके होनेपर ही प्राणियोको सुख होता है और उनके न होनेपर सुख नही होता और इसी लिए प्राणी घर स्त्री आदिकका कर्ता भी है भोक्ता भी है ऐसा आशय शङ्काकारका ठीक नहीं है। स्त्री घर आदिकके सयोगसे इन ससारी जीवोको सुख नहीं होता। उनसे भी सुख नही होता परन्तु उनका यह सुख केवल विषयजन्य है। सो विषय जन्यमे भी यह समझना चाहिए कि

उन विषयोका लक्ष्य करके जीवने अपनी कल्पना करके आनन्द गुणका विकार पाया है। वह वैषयिक सुख वास्तविक सुख नही है। ये वैषयिक सुख भी जो उत्पन्न होते है सो अपने आनन्द गुणके विकार परिणमनसे हुए और ऐसा होनेमे किसी भी पर वस्तुका सहारा नही होता। यहाँ तो स्वतन्त्ररूपसे इन मोही प्राणियोने अपनी सुख पर्यायको प्रकट की। हाँ यह बात अवश्य है कि ऐसी विकृत सुख पर्यायकी निष्पत्ति उन विषयोका विषय करके हुई है, सो विषय करनेका अर्थ है उनकी ओर उपयोग जाना। उपयोग परिणमन ही विषय है और ऐसी स्थितिमे जो वैषयिक सुख प्रकट हुए है सो भी उनसे ही हुए हैं और उनके न होनेपर हुए हैं सो बात नही है। बल्कि कभी कभी तो स्त्री पुत्र आदिक दुखके कारण बन जाते है तो उनके होनेपर दुख होना और उनके मिट जानेपर सुख हो जाना ऐसी भी घटनाये होती हैं, अतः यह कहना ठीक नही कि उनके होनेसे सुख होता। इस कारणसे यह उनका कर्ता भोक्ता है। जीव तो केवल अपने भावोका कर्ता है स्त्री पुत्रादिकका कर्ता भोक्ता मानना नयाभास है।

इदमत्र तात्पर्यं भवतु स कर्ताथ वा च मा भवतु ।
भोक्ता स्वस्य परस्य च यथाकथञ्चिच्चिदात्मको जीवः ॥५८४

उक्त समाधानका सारांश यहा तात्पर्य यह है कि जीवके सम्बन्धमे जिस किसी भी प्रकार हो यह समझ लेना चाहिए कि यह चिदात्मक अर्थात् चैतन्य स्वरूप है जीव। यो जीव सदा अपने ही भावोका कर्ता है और अपने ही भावोका भोक्ता है, किसी भी परका कर्ता भोक्ता नही है, लेकिन ऐसा न मानकर शङ्काकारने अब जीव का ऐसा सुख दुख रूप भाव होनेमे जो बाह्य विषय पडे हैं उन बाह्य विषयोका नाम लेकर उपचारसे कह दिया जाता है कि ये वैभव सम्पदा जीवके सुखके कारण है। यहाँ तक नयाभासोकी संख्या बताते बताते यह तीसरा नयाभास बता दिया। प्रथम तो है एक क्षेत्रावगाही भिन्न पदार्थमे कर्तापनकी बुद्धि द्वितीय नयाभास है जो जीवके साथ सम्बद्ध हो रहे है संयुक्त हो रहे हैं, पर एक क्षेत्रावगाही नही है, ऐसा परपदार्थो में कर्तृत्वकी बुद्धि बताना यह दूसरा नयाभास है और तीसरे नयाभासमे तो विषय-भूत पदार्थ अत्यन्त भिन्न क्षेत्रमें पडे हुए समझे गए हैं, ऐसा अत्यन्त भिन्न पदार्थोका कर्तृत्व और भोक्तृत्वका विकल्प करना सो यह है तृतीय नयाभास। साधककी दृष्टि यदि निर्मल है तो नयाभासोके प्रकारोसे भी शिक्षा ले सकते हैं। ये खोटे नय विकल्प हैं, यथार्थ नही है ऐसा जानकर उन विकल्पोसे दूर हटे।

अयमपि च नयाभासो भवति मिथो बोध्यबोध सम्बंधः ।
ज्ञानं ज्ञेयगतं वा ज्ञानगत ज्ञेयमेतदेव यथा ॥५८५॥

बोध्यबोधक सम्बन्ध विषयक चतुर्थनयाभास–अब नयाभासोंके उदाहरण मे यह चौथा नयाभास बताया जा रहा है। कुछ लोग ऐसा समझते हैं कि ज्ञान और ज्ञेयका बोध्य बोध रूप सम्बन्ध है अर्थात् ज्ञेय तो बोध्य है और ज्ञान बोधक है। यो इस सम्बन्धके कारण ज्ञान तो ज्ञेयमें चला गया, सो ज्ञान ज्ञेयका धर्म है और ज्ञेय ज्ञानमें चला गया इस प्रकारका जो लोग कथन करते हैं उनका यह कथन नयाभास है, ऐसा कथन क्यों नयाभास है कि ज्ञानका तो स्वभाव यह है कि उन प्रत्येक पदार्थों को जान तो रहा है किन्तु किसी भी पदार्थोंको जान तो रहा है किन्तु किसी भी पदार्थको जानता हुआ भी वह स्थिर है अपने ही स्वरूपमे। ज्ञान कभी भी ज्ञेय पदार्थमे जाते नही हैं और न यह ज्ञान उस पदार्थका धर्म बन जाता है। यद्यपि व्यवहारसे यह कहा जाता है कि यह घटका ज्ञान है यह पटका ज्ञान है, तो यह कथन इसलिए है कि उस समय उस ज्ञानकी कैसी प्रवृत्ति हुई है उसका बोध करना है तो उसका बोध विषयभूत पदार्थका नाम लिए बिना नही हो पाता था। अतएव उस ज्ञानमें विषय क्या आया? ज्ञानमें विकल्प क्या हुआ? जाना क्या गया? ऐसी वस्तु का नाम लेकर कहा जाता है कि यह घटका ज्ञान है यह पटका ज्ञान है आदिक। तो यह व्यवहार भी तब ही है जब कि उस शब्दका सही मर्म जानना हो। यदि घटका ज्ञान है, ऐसा सुनकर ऐसा ही मान लें कि यह तो ज्ञान घटका है, आत्माका नही है घटसे ही उत्पन्न हुआ, घटकी ही चीज है तो वह बात एकदम मिथ्या है। व्यवहार भी यथार्थतासे कब प्राप्त होता है? जब व्यवहारके विषयभूत बात कुछ समझकर इस व्यवहारने समझाया किसको है। उस परमार्थकी जानकारी बनायें तो यह व्यवहार यथार्थ है, क्योंकि व्यवहारका प्रयोजन परमार्थका बोध करना है। तो इसी प्रकार इस बोध्य बोधक सम्बन्धको जानकर बोध्यकी शक्ति धर्मका भान करना और बोधक की शक्ति और धर्मका ज्ञान करना सो तो इसका यथार्थ बोध है और, व्यवहारके शब्दोने सच्चे अर्थमे जितना बोला है उस ही कहनेके भावका यथार्थ मान लें तो वह व्यवहार अमद्भूत हो जाता है। ज्ञान ज्ञेयमे जाता है इसका अर्थ यह नही है कि ज्ञान अपने आधारभूत आत्म प्रदेशको छोडकर वहाँ १००—१५० हाथ दूर या १ इंच भी दूर किसी ज्ञेय पदार्थमे चला गया हो यह बात नही है और न यह बात है कि ज्ञान आत्मामे भी बना रहे और फैल करके बाहर ज्ञेय पदार्थोंमे भी पहुँच जाय किन्तु तथ्य यह है कि ज्ञान अपने स्वरूपसे चमकता हुआ, अपने आपमें विराजा हुआ वह सर्व कुछ समझ रहा है। वह समझ ज्ञेय विषयक है, इस कारण कहते हैं कि यह ज्ञान ज्ञेयमें चला गया है, इसी प्रकार ज्ञेय भी ज्ञानमे नही आता। लोग ऐसा कहने लगते हैं कि भगवानके ज्ञानमे सारा विश्व समा गया है। कहें ऐसा कोई हानि नहीं है, लेकिन उसका तथ्य तो जानें। यह सारा विश्व अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावको छोड कर या अपने उस चतुष्टयको लेकर यहाँ भगवान आत्माके प्रदेशमे आया हो, ऐसा नहीं है, और ऐसा भी नही है कि प्रदेशमे तो नहीं आया, पर ज्ञानमें आ गया। अरे

स्वरूप, ज्ञा । परिणमन प्रदेशसे बाहर नही है फिर भी यह कहना कि सारा विश्व भगवानके ज्ञानमे आगया है, उसका अर्थ इतना ही है कि भगवानके ज्ञा का विषयभूत सारा विश्व है, अर्थात् समस्त विश्व विषयक बोध है । इस तथ्यको न मानकर और यो बताना कि ज्ञान तो ज्ञेयमे चला गया, ज्ञेय ज्ञानमे चला गया' इस कारण ज्ञान ज्ञेयका धर्म है या ज्ञेय ज्ञानका धर्म है यह सब नयाभास है, मिथ्या है ।

चक्षू रूपं पश्यति रूपगत तन्न चक्षुरेयव था ।
ज्ञानं ज्ञेयमवैति च ज्ञेयगतं वा न भवति तज्ज्ञानम् ॥५८६॥

दृष्टान्त पूर्वक बोध्य बोधक सम्बन्ध विषयक चतुर्थ नयाभासका निराकरण ज्ञान ज्ञेयगत है, ज्ञेय ज्ञानगत है ऐसा कथन नयाभास क्यो कहलाता है, इस सम्बन्धमे इस गाथामे स्पष्टीकरण किया गया है दृष्टान्त देकर क्या दृष्टान्त दिया है कि जैसे चक्षुरूपको देखते हैं परन्तु वे रूपमे तो नही चले जाते और न वे चक्षु रूपका धर्म बन जाते । स्पष्ट सब समझ रहे हैं कि आँख आँखकी ही जगह है और अपनी ही जगह रहकर ये आँखें इन समस्त रूपोको देख रही है तो ये सारे दृष्टगत पदार्थ इस दृष्टिके विषयभूत हैं पर यह नही कि यह दृष्ट ये आँख उन बाह्य पदार्थों मे पहुच गए हो । इसी प्रकार ज्ञान अपनी ही जगह रहता हुआ सर्व ज्ञेयोको जानता है, परन्तु वह ज्ञान अपनी ही जगह रहता हुआ सर्व ज्ञेयोका धर्म न बन जायगा । यह दृष्टान्त एक व्यावहारीक दृष्टान्त है । वस्तुत' तो चक्षु भी न त्रु पदार्थोंको जानते देखते नही हैं ' वे तो एक साधन हैं इस छद्मस्थ अवस्थामे इस साधनके द्वारा यह आत्मा जानता देखता है । पर जितने अशके लिए यह दृष्टान्त दिया गया है उन अशो मे ही घटित करना है । सभी लोग देख रहे हैं कि आँख आँखकी जगह रहती हैं, बाहर नही जाती पर बाहरके इन पदार्थोंको देख लेती हैं । ठीक इसी प्रकार ज्ञानका विकास है । इससे यह समझना चाहिए कि ज्ञान ज्ञेयमे नही जाता ज्ञेय ज्ञानमें नही जाता, फिर भी ज्ञानको ज्ञेयगत और ज्ञेयको ज्ञानगत कहना नयाभास है। इसमे वस्तु का स्वरूप नही कहा गया है, किन्तु विपरीत कथन किया है ।

इत्यादिकाश्च बहवः सन्ति यथालक्षणा नयाभासाः ।
तेषामयमुद्देशो भवति विलक्ष्यो नयान्नयाभासः ॥५८७॥

अनेक नयाभासोका निर्देश---नयाभासोके उदाहरणमे चार उदाहरण दिए गए है । उन नयाभासोके अतिरिक्त और भी अनेक प्रकारके नयाभास है, जिनका कि ऐसा ही लक्षण है । अर्थात् जो अन्य वस्तुकी बात अन्य वस्तुमे आरोपित करे उसको नयाभास कहते हैं । अतदगुणारोप नयाभास कहलाता है । वस्तुका वह धर्म नही, गुण

नहीं। किसीसे सम्बन्ध नहीं, परिणमन नही, फिर भी किसी अन्य वस्तुके गुण धर्म को अन्य वस्तुमें कहना यह अतदगुणारोप कहलाता है। तो जितना भी अतद्गुणारोप का कथन है वह सब नयाभास है, व्यवहारनय नही है। व्यवहारनय भी तदगुणारोपी होता है। व्यवहार तो यो कहलाने लगता कि अभेद वस्तुमें भेदीकरण किया है और अभेद वस्तुमे अंशको बताया गया है, चाहे विकृत अंशोंको कहा जाय चाहे स्वाभाविक अशोंको कहा जाय, चाहे भिन्न भिन्न शक्तियोंको कहा जाय वह सब व्यवहार है। तो व्यवहारमें तदगुणारोप है, अतदगुणका आरोप करना तो नयाभास ही कहलाता है। तो नय और नयाभास इनका स्वरूप एक दूसरेसे बिल्कुल विलक्षण है। जो समीचीन नय है उसे नय कहते हैं और जो मिथ्या नय है उसे नयाभास कहते हैं। नव शङ्काकारका यह कहना कि अन्य वस्तुके गुण अन्य वस्तुमें आरोपित किए जायें ऐसा व्यवहार बनानेमें जीवका अहित है, दोष है, तो भले ही दोष रहा आगे पर न्यायमें जो कुछ कथन करना आवश्यक होता है वह तो करना चाहिए। नय प्रवाह अनिवार्य है, तो उसका उत्तर यह है कि नय प्रवाह अनिवार्य है सो हम भी कह रहे अनिवार्य पर उन नयोंके प्रकार यों बन जायेंगे कि कोई नय यथार्थ है और कोई नय मिथ्या है। तो यो कथन व्यवहारमें है आ पडता है ठीक है, किन्तु वह नयाभास है। नय नहीं है। इस तरह नयोंकी दो प्रकारता बताकर प्रवाहका दुर्निवार होना सिद्ध होता है। इससे यह जानना चाहिए कि जो अतदगुणारोप है वह नय नहीं है किन्तु नयाभास है।

पञ्चाध्यायी प्रवचन

[सप्तम भाग]

प्रवक्ता :

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक मनोहर जी वर्णी
'सहजानन्द' जी महाराज

ननु सन्ति नयास्ते किं नामानोऽथ वा कियन्तश्च ।

कथमिव मिथ्यार्थास्ते कथमिव ते सन्ति सम्यगुपदेश्याः ॥५८८॥

नयोके नाम, प्रकार, नयाभासत्वविधि आदिकी जिज्ञासा—अब यहाँ जिज्ञासु नयके सम्बन्धमे बहुत सी बातें जानना चाहता है, उसकी पहिली जिज्ञासा यह है कि समस्तनयोके नाम क्या क्या होते हैं, याने नय किस किस नाम वाले होते हैं और वे सब नय कितने हैं। यह दूसरी जिज्ञासा है कि वे सब नय कितने हैं। तीसरी जिज्ञासा है कि वे नय किस तरह मिथ्या नयको विषय करने वाले हो जाते हैं और कैसे वे यथार्थ अर्थको विषय करने वाले होते हैं ? पहिली जिज्ञासाका भाव यह है कि नयोके सम्बन्धमे अभेद द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक या व्यवहारनयके भेदमे सद्भूत असद्भूत आदिकरूपमे कहा गया है और ऐसी भी ध्वनियाँ आयी हैं कि इससे भी और अधिक नय होते हैं। तो यह जिज्ञासा होना प्राकृतिक है कि वह नय किस किस नाम वाला हुआ करता है। नामके बिना विषयका कुछ परिचय नही हो पाता, नामके बिना उसका व्यवहार तक भी नही हो सकता। इसलिए नामकी जिज्ञासा होना सर्व प्रथम बात है। दूसरी जिज्ञासा यह हुई कि ऐसे नय आखिर होते कितने है ? किसी भी वस्तुके सम्बन्धमें उनकी सख्याकी जानकारी हो तो उससे परिचय स्पष्ट हो जाता है। लौकिक पदार्थोंमे भी पदार्थोंके परिज्ञानके साथ साथ उनकी सख्याका चाहे अंदाजा हो, चाहे बिल्कुल ठीक हो, संख्याका परिज्ञान होता ही है। जैसे जीव पदार्थका स्वरूप जानने वाले लोग जीवके ठीक स्वरूपका भान तब ही कर पा रहे हैं जब कि उनकी सख्याका भी परिज्ञान है। जीव अनन्तानन्त होते हैं तो अनन्तानन्त रूपसे

अथवा अनेक रूपसे जीवकी सख्याका परिज्ञान है तत्र जीवके स्वरूपका परिचय भी स्पष्ट है। तो वे नय कितने हैं ऐसी उनकी सख्याके परिचयकी जिज्ञासा भी युक्ति-सङ्गत है। जिज्ञासुकी तीसरी जिज्ञासा यह है कि नय तो प्राय एक ही लक्षण वाले हैं, जो अशको ग्रहण करे सो नय है, फिर इन नयोमेसे कोई नय सम्यक हो जाता है कोई मिथ्या हो जाता है ऐसी उनमे समीचीनता और असमीचीनताका कारण क्या है अर्थात् वे सब नय कैसे ठीक २ कहे जाते हैं और कैसे वे विरुद्ध माने जाते हैं? इन तीन जिज्ञासाओका समाधान करनेके लिए अब गाथा कहते हैं।

सत्य यावदनन्ताः सन्ति गुणा वस्तु तो दिशेपाख्याः।
यावन्तो नयवादा वचोविलासा विकल्पाख्याः ॥५८६॥

नयोके भेदोका प्रतिपादन—इस गाथामे जिजासुकी प्रथम दो जिज्ञासाओ का समाधान किया गया है। इसमे प्रथम दूसरी जिज्ञासाका समाधान जाननेके बाद उनके नामकी जिज्ञासा आसानीसे समाधानमे आ जाती है, वस्तुमे जितने भी गुण हैं उतने ही नयवाद होते हैं। और जितनी भी वचन विवक्षायें हैं वे सब नयवाद ही तो कहलाती हैं इससे समझना चाहिए कि नयोकी सख्या वध नही सकती क्योकि प्रत्येक गुणको विषय करने वाला नय अपने आपमे विशेष दृष्टिसे स्वतत्र है, ऐसे कितने प्रकार नयोके हो सकते हैं? तो कहना चाहिए कि जितने विस्तारमें गुण हैं उतने ही नय हो सकते हैं, तो गुणोसे परिज्ञानके आधारपर नयोकी सख्या वतायी गई है इसी प्रकार वचन विकल्पोके आधार पर भी नयोकी सख्या वतायी गई है। कारण यह है कि जो विकल्पात्मक हो सो ही तो नय हो सकता है। विशेष गुणोका परिज्ञान होना यह भी विकल्प है, भेदीकरण है और वचनके जो विकल्प हैं वे भी विकल्प हैं और भेद रूप हैं। तो यो जितने भी गुण हैं उतने नय हो सकते हैं। और जितने वचनोकी विवक्षा है उतने नय हो सकते हैं। तब समझ लेना चाहिए कि नय भी उतने ही नाम वाला है। गुणोका सबका परिचय तो हो नही सकता, क्योकि उनका प्रतिबोध करने वाले वचन भी नही हैं केवल ज्ञानीके ज्ञानमे अनन्त गुणोका प्रतिभास है तो वहाँ वचन नहीं है, निर्विकल्प प्रतिभास है। और जहाँ वचन विकल्प हैं ऐसे बडे बडे ज्ञानियोके यहाँ भी अनन्त नाम स्पष्ट नहीं हैं। वहाँ भी वचन विकल्प जितने हैं उतनी ही शक्तियोका परिचय है। जितनी शक्तियोका परिचय है उतना ही वचन विलास है। तो सक्षेपमें इतना समझ लेना चाहिए कि जिस गुणका निर्देश करने वाला जो नय है वह नय उस गुणके नाम वाला बन जाता है। तो कितने नाम कहे जायें? वे सभी नाम कहे नही जा सकते और न बोधमे आ सकते। जितने गुण स्पष्टरूपसे परिचयमे है उन गुणोके नामसे उतने नय कहे जा सकते हैं। यो दो जिज्ञासाओका समाधान है कि नयोके वे वे नाम हैं जिन जिनको नय विषय करते हैं

और दूसरी जिज्ञासाका समाधान यह हुआ कि नय उतने है जितने कि वस्तुमे गुण हैं और जितनी वचनकी विवक्षायें हो सकती हैं।

अपि निरपेक्षा मिथ्यास्त एव सापेक्षका नयाः सम्यक्।
अविनाभावत्वे सति सामान्य विशेषयोश्च सापेक्षात्॥५६०॥

निरपेक्ष नयोमे मिथ्यात्वकी व सापेक्ष नयोमे सम्यक्त्वकी घोषणा— इस गाथामे जिज्ञासुकी तीसरी जिज्ञासाका समाधान दिया गया है। जिज्ञासा यह थी कि नय कैसे तो मिथ्या अर्थको विषय करने वाला हो जाता है और कैसे यथार्थ पदार्थको विषय करने वाला हो जाता है ? समाधान इसका यह दिया गया है कि जो निरपेक्ष नय है वह मिथ्या होता है और जो सापेक्षनय है वह यथार्थ होता है। ऐसा होनेका कारण यह है कि सामान्य और विशेष इन दोनोका अविनाभाव है और वस्तु प्रत्येक सामान्य विशेषात्मक होती है। तो सामान्य विशेषात्मक वस्तुमेसे यदि विशेषको जाना जा रहा है और वह जानना निरपेक्ष कर दिया जाय अर्थात् केवल विशेष ही मात्र रह जाय तो वह मिथ्या हो जायगा, क्योकि वस्तु मात्र विशेषरूप ही नही है, वह सामान्य विशेषात्मक है, इसी प्रकार कोई सामान्यका परिज्ञान करे और इस तरह परिज्ञान करे कि एक सामान्य ही है वस्तुमे यह आग्रह बना लें धारणा संस्कारमे भी यह बात नही होती कि विशेष भी स्वरूप है तब यह नय मिथ्या हो जायगा। तो नय मिथ्या होते हैं तब वह निरपेक्ष बन जाता है। वस्तुमे जिस धर्मका प्रतिपादन किया जा रहा है उसके अन्दर जो अनन्त धर्म हैं उनकी जब अपेक्षा नही रहती तो वह कथन मिथ्या हो जाता है। यहाँ इतना स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि तद्गुणको कहने वाला नय हो तब वह नय कहलाता है और गुणके नामपर उसका नाम होता है। उनमेसे निरपेक्ष अवस्थामे वह विवेचन एकान्त रूप पड जाता है और अन्य अशका निषेध बन जाता है और पदार्थ केवल उतना है नही जितना कि निरपेक्ष अवस्थामे जाना है। इस कारणसे निरपेक्षनय मिथ्या हो जाता है, क्योकि वस्तु अनन्त धर्मात्मक हैं उनमेसे केवल एक धर्ममात्र वस्तुको जाना तो वह समीचीन ज्ञान नही है, इसी कारण वह एकान्त विवेचन है, अथवा एक धर्मका ज्ञान मिथ्या ज्ञान हो जायगा। यदि अन्य धर्मोकी अपेक्षा रखकर किसी नयका प्रयोग किया जाता हो तो [illegible] समीचीन प्रयोग है। यह नय सम्यक नय है क्योकि उस सापेक्षनपने यद्यपि वस्तु [illegible]को ही कहा लेकिन उस ज्ञाताने पदार्थको उस अश मात्र ही नही समझा [illegible] वह नय सापेक्षनय है और सापेक्षनय सम्यक नय हुआ करता है इस [illegible]ाका समाधान यह है कि नय जब अन्य नयोंकी अपेक्षा नही रखता [illegible]ो जाता है और अन्य नयोकी अपेक्षा रखता है तो वह सम्यक

सापेक्षत्वं नियमादविनाभावस्त्वनन्यथासिद्धः ।
अविनाभावोपि यथा येन विना जायते न तत्सिद्धिः ॥५६१॥

सामान्य विशेषमे परस्पर सापेक्षता व अविनाभावपना—इस गाथामें यह स्पष्ट किया है कि सामान्य और विशेषमे सापेक्षता किस कारणसे है, यहाँ कारण बताया है कि सामान्य और विशेषमे परस्पर सापेक्षता इस कारण है कि उनमें नियम से अविनाभाव है। सामान्य न हो तो विशेष नही ठहर सकता। विशेष न हो तो सामान्य नही रहता। जैसे एक मनुष्यमे सामान्य धर्म तो मनुष्यत्व है और विशेष धर्म बालपना, वृद्धपना, जवानी अथवा विद्वान होना, सुन्दर होना, उदार होना आदिक अनेक गुण हो तो यदि सामान्य मनुष्य न मानें तो विशेष बातें कहाँ विराजेंगी ? कौन जवान बना ? मनुष्यत्व तो है नहीं। कौन बालक बना ? तो सामान्यका अपलाप करनेपर विशेषका अभाव हो जाता है। और, यदि विशेषका अपलाप किया जाय कि बालक नही, जवान नही, बूढा नही तो मनुष्यत्व विराजेगा कहाँ ? बच्चा भी नही, बडा भी नही, और मनुष्य है तो ऐसा मनुष्य कोई लाकर दिखाये तो सही तो विशेषके बिना सामान्य सामान्य नही हो सकता। तो लो सामान्य और विशेष ये दोनो अविनाभावी बन गए। तो जब इनमे सापेक्षता है तब ही तो यह अविनाभावी हुआ। एकके बिना दूसरा नही होता ऐसा जहाँ देखा जाय वहाँ अविनाभाव समझना चाहिए। सामान्यके बिना विशेष सिद्ध नही होता और विशेषके बिना सामान्य सिद्ध नहीं होता, इस कारण यह बात युक्तिसङ्गत है कि इन दोनोमे अविनाभाव है परस्पर अविनाभाव होनेके कारण ही दोनोंमे सापेक्षता है। तो जब सामान्य और विशेषमे सापेक्षता है तो इसमे सो कोई एक निरपेक्ष रूपसे सामान्यको ही जाने तो वह सम्यक कैसे हो सकता है ? अथवा अन्य दूसरे धर्मको जाने तो निरपेक्ष होकर जाननेसे तो मिथ्यानय बनता और सापेक्षताकी पद्धतिमे जाननेपर वह सम्यकनय हो जाता है। इस प्रकार जिज्ञासुकी तीसरी जिज्ञासाका समाधान दिया गया है।

अस्त्युक्तो यस्य सतो यन्नामा यो गुणो विशेषात्मा ।
तत्पर्यायविशिष्टास्तन्नमानो नया यथान्नायात् ॥५६२॥

नयोके विषयभूत तत्त्वोके नामपर नयोके नामका निर्देशन—नयोके क्या नाम होते हैं इस सम्बन्धमे इस गाथामें सकेत दिया है। आचार्य कहते हैं कि जिस द्रव्यका जिस नाम वाला कोई विशेष गुण कहा जाता है उस गुणकी पर्यायोंसे विशिष्ट और उस गुणको विषय करने वाला नय भी नयके नामसे कहा जाता है, अर्थात् जितने गुण पदार्थमे विवक्षित किए जाते हैं वे जिस जिस नाम वाले हैं उनको प्रतिपादन करने वाला अथवा जानने वाला नय उन्हीं नामोसे पुकारा जाता है। इस

गाथामे नयोके नामकी कुञ्जी दिखाई गई है। जो विषय हो उसका जो नाम हो उसी विषयके आगे नय शब्द और जोड़ देनेपर उस नयका पूरा नाम हो जाता है। अब तक जितने नयोके प्रयोग किए गए है उनमे यही कुञ्जी अपनाई गई है। व्यवहार कहते हैं भेद करनेको। भेद करनेकी बात जिस नयके विषयमे आयी है, उस नयका नाम व्यवहारनय हो गया। पर्याय कहते हैं अंशको। पदार्थके अंशको विषय करने वाला जो नय है उसे पर्यायार्थिकनय कहते है। द्रव्य कहते हैं उस समस्त गुण पर्यायो के पिण्डको उस द्रव्यको जो विषय करता है उसको द्रव्यार्थिकनय कहते हैं। तो अब तक जितने नयोके नाम निकले हैं उन नामोसे भी यही प्रकट होता है कि नय जिसको विषय करते हैं उनके नामपर ही नयोके नाम रखे गए हैं। बस यही कुञ्जी समस्त नयोंके सम्बन्धमे लगेगी।

अस्तित्व नाम गुणः स्यादिति साधारणः सतस्तस्य।
तत्पर्यायश्च नयः समासतोस्तित्वनय इति वा ॥५६३॥

नयोके नामकरणकी पद्धतिका एक दृष्टान्त—नयोके नाम विषयोके नाम पर रखे जाते हैं इस बातको दृष्टान्त पूर्वक इस गाथामे दिखाया है। जैसे द्रव्यमें अस्तित्व नामका एक गुण है उस गुणको विषय करने वाले नयका भी नाम अस्तित्व नय कहा जाता है, द्रव्यमे जो ६ साधारण गुण हैं उनमे प्रथम गुण अस्तित्व है। अस्तित्व गुण उसे कहते हैं जिस शक्तिमे पदार्थका अस्तित्व कायम रहे। यद्यपि पदार्थ मे अस्तित्व गुण निराला करके नही है। जो अस्तित्व गुण पदार्थका अस्तित्व कायम रखता हो, पर पदार्थ ही स्वय इस रूप है इस ही बातका भेद करके अस्तित्व गुणके नामसे बताया गया है तो ऐसे अस्तित्व गुणको जो कि एक साधारण गुण है उसको विषय करने वाला जो नय है उस नयका नाम अस्तित्वनय कहलाता है। इस कुञ्जी के अनुसार अस्तित्व गुणको विषय करने वाले नयका नाम अस्तित्वनय कहा है। इसी प्रकार अन्य नयोके नाम भी समझना चाहिए। उसके लिए कुछ और भी दृष्टांत दे रहे हैं।

कर्तृत्वं जीवगुणोस्त्वथ वैभाविकोऽथवा भावः
तत्पर्यायविशिष्टः कर्तृत्वनयो यथा नाम ॥५६४॥

नयोंके नामकरणकी पद्धतिका द्वितीय दृष्टान्त—जीवमे एक कर्तृत्व गुण है अथवा कहो, वह कर्तृत्व नामक विभाव वैभाविक भाव है। उस कर्तृत्व पर्यायको विषय करने वाला जो नय है उस नयका नाम कर्तृत्वनय कहलाता है। कर्तृत्वको दो दृष्टियोसे परखना चाहिए एक तो यह कि जो भी पदार्थ होते हैं वे

प्रतिक्षण किसी न किसी रूपसे परिणमते ही रहते हैं । परिणमन बिना किसी भी क्षण पदार्थ नहीं रहता है, तब इस ही परिणमन करने वालेको उस परिणमनका कर्ता कहा जाता है । तो ऐसा कर्तृत्व सभी पदार्थोंमे पाया जाता है । और सभी अवस्थाओंमे यह कर्तृत्व होता है लेकिन जब किसीको यह असन्तोष होना कि पदार्थ है, उसका परिणमनेका स्वभाव है, परिणमना रहता है उसमें कर्तापनकी क्या बात आयी ? कर्तापन तो वहाँ समझमें आता है जहाँ कोई जीव कुछ बल लगाकर कुछ बुद्धि लगाकर या श्रम करके करता हो किसी पदार्थमे कुछ वहाँ कर्ता नामसे व्यवहार होता है । तो इस दृष्टिसे अब दूसरा प्रकार सुनो ! दूसरे प्रकारमे यह तो न होगा कि कोई पदार्थ किसी दूसरे पदार्थको कर देता हो, क्योंकि प्रत्येक वस्तु अपने आपमें स्वतन्त्र है, किन्तु जीव द्रव्यमे यह देखा जायगा कि यह सन्सारी प्राणी घर मकान आदिकको तो नही करता यह तो बात ठीक है, पर उसमे जो क्रोध, मान, माया, लोभ विकल्प तरङ्ग आदिक उठ रहे हैं ऐसा परिणमन होना इन वस्तुके स्वभावमें तो नहीं है । जीव तो ज्ञान शक्तिरूप है, चैतन्य स्वभाववान है, उसमें क्रोधादिक विकारों का अवकाश नही है स्वभावमे यदि विकार हो तो विकार ही स्वभाव बन गया, और वे कभी फिर छूट न सकेंगे । तो ये विकार आत्माकी शक्तियोमे नही हैं फिर भी उपाधिका निमित्त पाकर इनमे विकाररूप परिणमन होता है । इस स्थितिमे इस जीव को विकारका कर्ता कहा जाता है और तब कहना कि जीवमे क्रोध कर्तृत्व है मान कर्तृत्व है, इस तरहकी पर्यायोको जो विषय करे ऐसे नयका नाम है कर्तृत्वनय । इस नयने यह बताया है कि यह जीव विकार भावका कर्ता है । अथवा जो विकल्प विचार उत्पन्न होते हैं उनका कर्ता है । यह पर्यायार्थिकनयकी बात है । जिसमे निश्चयनय यह झलक देता है कि परमार्थतः ऐसा नहीं है । तो इस प्रकार एक कर्तृत्व पर्यायको जो विषय करे उस नयका नाम कर्तृत्व नय है इसमे भी वही कुञ्जी आयी कि जो नय जिस प्रकारके तत्त्वको विषय करता है उस तत्त्वका जो नाम रखा गया हो उस ही प्रकारका नाम उस नयका रखा जाता है ।

अनया परिहाटया किल नयचक्रं यावदस्ति बोद्धव्यम् ।
एकैकं धर्मं प्रति नयोपि चैकेक एव भवति यतः ॥५९५॥

नयोंके नामकरणकी पद्धतिसे शेष नयोके नामकरणकी शक्यता और उनकी गणनाका बीजभूत कथन—नयोंके नामकी जो पद्धति बतायी गई है उस पद्धतिसे सभी नयोंके सम्बन्धमें बात जान लेना चाहिए । इसका कारण यह है कि एक एक धर्मके प्रतिनय भी एक एक है । जितने वस्तुमे धर्म हैं, अंश हैं उतने रूपसे पर्यायरूपसे उन सब अंशोको जान सकने वाला नय भी होता है तब जितने धर्म हैं । अंश हैं नय उतने कहलायेंगे और जो जो नाम उन अंशोंके प्रसिद्ध हुए उन्ही उन्हीं

नामोसे नयोके नाम भी बन जायेंगे। जैसे पदार्थमे ज्ञान गुण है तो ज्ञान गुणको समझाने वाला जो नय है उसका नाम ज्ञाननय है। आत्मामे एक दर्शन शक्ति भी है, उसको समझाने वाला जो नय है उसका नाम दर्शननय है। तो जितने भी वस्तुमे अश हैं, भेद हैं पर्याय हैं उतने ही नय हुआ करते हैं। हमे उन समस्त अंशोका बोध नही है और न उनका नाम प्रसिद्ध है पर वे अंश हैं और उनका जानना बनेगा, तो उनके भी नयका विकास है उस समयमे और जिन शब्दोमें उनका नाम होगा उन्हीं शब्दोमे नयोका भी नाम होगा। इस तरह यह सिद्ध होता है कि नय उतने हैं जितने कि पदार्थमे धर्म हैं अथवा वचनकी विवक्षायें हैं और उन नयोके नाम वे ही है जो नाम नयके विषयभूत तत्त्वोके हैं।

सोदाहरणो यावान्नयो विशेषणविशेष्यरूपः स्यात् ।
व्यवहारापरनामा पर्यायार्थो नयो न द्रव्यार्थः ॥५९६॥

सोदाहरण व विशेषण विशेष्यभावरूप नयोंकी व्यवहारनयरूपता—उक्त गाथामे संकेतमे बताये गए विषयको और भी स्पष्ट रूपसे इस गाथामे कहा है। जितने भी उदाहरण सहितनय हैं और जितने भी विशेषण विशेष्य वाले नय है उन सबका व्यवहार करते हैं। जिसका दूसरा नाम पर्यायार्थिकनय भी है। उसको व्यवहारनय कहा अर्थात् पर्यायार्थिकनय कहा। उसे द्रव्यार्थिकनय नही कह सकते है। पदार्थके बहुत गहरे अन्तरङ्गमे जाकर भी कुछ प्रतिपादन यदि हो रहा है, कुछ विकल्प से समझा जा रहा है किसी भेदको तो उसको विषय करने वाला नय पर्यायार्थिकनय होगा द्रव्यार्थिकनय न होगा, क्योकि जो कुछ भी भेद विवक्षासे कहा जाता है वह सब व्यवहारनय है अथवा पर्यायनय है। द्रव्यके समझनेके लिए किन्ही भी शब्दोमें कुछ कहा जाय वह सब प्रतिपादन व्यवहारनय होगा। द्रव्यार्थिकनय तो उन व्यवहारनयोकी समझसे दृष्टिमे आता है। जो कुछ द्रव्यार्थिकनयका विषय है और उसकी अपेक्षा रखता हुआ व्यवहारनय सम्यक कहलाता है, पर व्यवहारनयके शब्दोमे जो कुछ विषय आ रहा है वह द्रव्यार्थिकनयका विषय नही है।

ननु चोक्तलक्षण इति यदि न द्रव्यार्थिको नयो नियमात् ।
कोऽसौ द्रव्यार्थिक इति पृष्टास्तचिन्हमाहुराचार्याः ॥५९७॥

समस्त विवेचनोकी व्यवहाररूपता प्रसिद्ध होनेपर निश्चयनयके स्वरूपकी जिज्ञासा—शङ्काकार यहाँ प्रश्न करता है कि यदि उदाहरण सहितनय है या विशेषण विशेष्य रूप नय द्रव्यार्थिकनय नही है तो फिर द्रव्यार्थिकनय क्या कहलायेगा, इसका समाधान करेंगे ? शङ्काकारका यह अभिप्राय है कि उदाहरण सहित

बताये जाने वाले कथनको व्यवहारनय कहेंगे। तो द्रव्यार्थिकनयके विषयको भी जब स्पष्ट किया जाता है और उदाहरण दिया जाता है ऐसी स्थितिमें भी उसे व्यवहारनय बता दे तब फिर द्रव्यार्थिकनय क्या होगा? इसी तरह विशेषण विशेष्यरूप रागादिक हैं, परिचय है उसे भी द्रव्यार्थिकनय बता दिया तो द्रव्यार्थिकनयके विषय को उन्हीं शब्दोंमें ही तो कहेंगे। जैसे कहा जीव ज्ञानमय है। तो जीव हो गया विशेष्य ज्ञानमय हो गया विशेषण। अब भी प्रतिपादन करेंगे तो वहाँ विशेष्य विशेषण भावकी प्रक्रिया तो बनती ही है। अब अन्तरङ्ग विषय वाले द्रव्यको भी कहेंगे तो वहाँ भी विशेष्य विशेषणकी पद्धति आ ही जायगी। और, यहाँ यह प्रतिज्ञा सी कर दी गई है कि जितने भी विशेष्य विशेषण रूप नय हैं वे सब व्यवहारनय हैं अथवा पर्यायनय हैं तब फिर यह बतलाओ कि द्रव्यार्थिकनय कौन सा है? शङ्काकारकी इस जिज्ञासामें तत्त्वके प्रति प्रेम जाहिर हो रहा है। द्रव्यार्थिकनयका जो विषय होता है वह इसकी झलकमें आया है तभी उसे लक्ष्यमें लेकर पूछ रहा है। द्रव्यार्थिकनय यदि इन सब नयोंमें नहीं आता या प्रतिपादनमें नहीं आता तब फिर वह नय होता क्या है? इसका समाधान जिज्ञासुने स्वहितके लिए प्राप्त करना चाहा। अब आचार्यदेव इस जिज्ञासाका समाधान करनेके लिए द्रव्यार्थिकनयका स्वरूप कहते हैं।

व्यवहारः प्रतिषेध्यस्तस्य प्रतिषेधकश्च परमार्थः।
व्यवहारप्रतिषेधः स एव निश्चयनयस्य वाच्यः स्यात् ॥५६८॥

निश्चयनयका स्वरूप—व्यवहारनय तो प्रतिषेध्य है और परमार्थ उसका प्रतिषेधक है अर्थात् व्यवहारनयने जो कुछ कहा उसके निषेध करने वाला निश्चयनय तब समझ लेना चाहिए कि निश्चयनयका विषय अथवा वाच्य व्यवहारनयका प्रतिषेध करता है। व्यवहार सारी व्यवस्थायें जमा रहा है, सब कुछ प्रतिपादन कर रहा है। आत्मतत्त्वके सम्बन्धमें कुछ जाहिरात भी कर रहा है तब निश्चयनय केवल एक इस धुनमें है कि वह सबका ना कर जाय, यह भी नहीं, तो व्यवहारका प्रतिषेध करना ही निश्चयनयका वाच्य होता है। और इस कारण यह कथन समीचीन है कि व्यवहार तो प्रतिषेध्य है और परमार्थ उसका प्रतिषेधक है, अब इसी विषयका स्पष्टीकरण करनेके लिए कुछ दृष्टान्त दिए जायेंगे, जिन दृष्टान्तोंसे यह विदित होगा कि परमार्थ तत्त्व अवक्तव्य है और परमार्थ तत्त्वको दृष्टि करने वाला नय निश्चयनय है। ऐसा निश्चयनय सर्व व्यवहारका प्रतिषेध करने वाला हो रहा है। इस दृष्टिमें यह बात समायी हुई है कि व्यवहारनय जो कुछ कहता है वह यथार्थ नहीं है। व्यवहारनयने पदार्थमें भेद किया तो निश्चयनय कहता है कि भेद नहीं है। अंशको ग्रहण किया तो निश्चयनय कहता है कि अंश परमार्थभूत नहीं है। इस प्रकार द्रव्यार्थिकनय के कुछ उदाहरण दिए जायेंगे।

व्यवहारः स यथा स्यात्सद्द्रव्यं ज्ञानवांश्च जीवो वा ।
नेत्येतावन्मात्रो भवति स निश्चयनयो नयाधिपतिः ॥५९९॥

निश्चयनयके विषयका स्पष्टीकरण—उक्त गाथामे यह बताया था कि व्यवहार प्रतिषेध्य है और उसका प्रतिषेधक परमार्थ है सो व्यवहारका प्रतिषेध होना ही निश्चयनयका वाच्य है। इस कथनसे यह ध्वनित किया गया है कि जो कुछ व्यवहारनयसे कहा जाता है वह सब हेय है, निषेध्य है। उसका कारण यही हो सकता है कि व्यवहारनय जो कुछ कहता है वह पदार्थका स्वरूप नही है। पदार्थ तो अखण्ड है, अभिन्न है और इसी कारण अवक्तव्य है किन्तु व्यवहारनय उसका भेद बतलाता है। पदार्थ तो अनन्त गुणात्मक अखण्ड तत्त्व है परन्तु किसी विवक्षित गुणके माध्यम से व्यवहारनय उसका विवेचन करता है। तो यहाँ यह ध्यानमे आना चाहिए कि परमार्थका विषय और व्यवहारनयका विषय परस्पर विरुद्ध है फिर भी पदार्थमे अविरोध है। यही तो स्याद्वादकी खूबी है कि परस्पर विरुद्ध धर्मोंको एक पदार्थमे अवस्थित बताना। पदार्थ सामान्य विशेषात्मक है किन्तु उसमेसे सामान्यका या विशेष अशका ग्रहण करे सो व्यवहारनय है। तब समझना चाहिए कि व्यवहारनयका यह अश है। केवल सामान्य है क्या, केवल विशेष है क्या? वह सब निषेध करनेके योग्य है, तो व्यवहारसे व्यवहारनयका निषेध निश्चयनयका विषय है। जिसे यो समझिये कि व्यवहारनय गुण गुणीमे भेद बतलाता है तो निश्चयनय कहता है कि ऐसा नही है। भेद नही है, तो निश्चयनयका वाच्य अर्थ यही हुआ कि व्यवहारमे जो कुछ विषय आया उसका निषेध करे।

निश्चयनयके विषयके दो उदाहरण—निश्चयनयके विषयको दृष्टान्त द्वारा इस गाथामे बताया है कि जैसे व्यवहारनय यह विवेचन करता है कि अथवा जानता है कि द्रव्य सत्रूप है, तब निश्चयनय कहता है कि ऐसा नही है। उसका कारण यह है कि सत्रूप कहनेसे एक सत्त्व गुणका बोध हुआ। पदार्थमे जो अस्तित्व गुण है उसकी प्रमुखतासे कहा गया किन्तु पदार्थ केवल अस्तित्व गुणमय ही हो ऐसा तो नही है, किन्तु अनन्त गुणात्मक है। इस कारण पदार्थको सत्रूप कहना ठीक नही है ऐसा निश्चयनयसे जताया तब व्यवहारनयकी बातका निषेध निश्चयके द्वारा हुआ अथवा दूसरा दृष्टान्त लीजिए व्यवहारनयने यह विवेचन किया कि जीव ज्ञानवान है। निश्चयनय कहता है कि ऐसा नही है। तो यहाँ जीवको ज्ञानवान कहलाना यह भी तो व्यवहारनयका विषय है। निश्चयनयने इसका निषेध किया अर्थात् जीव ऐसा नही है। व्यवहारनय जैसे कहता है कि जीव ज्ञानवान है तो निश्चयनयके विषयमे क्यो नही है ऐसा? यो नही है कि जीव अनन्त गुणोका अखण्ड पिण्ड है। वे अनन्त गुण अभिन्न प्रदेशी हैं। तो वह पदार्थ अभिन्न रहा। अब ऐसे उस अखण्ड

पदार्थमें गुण गुणीका भेद करना मिथ्या है। कैसे वहाँ ज्ञान अलग हुआ, जीव अलग हुआ और फिर जीव ज्ञानवाला है इस तरह बताया जाय ? वहाँ तो जीव ही उस रूप है जैसा निश्चयनयने देखा, पर कथनमे कहनेपर भेद आ ही जाता है। तब व्यवहारनयका जो विषय है, भेद है उसका निषेध निश्चयनयके द्वारा हुआ। यों ही समझिये कि जितना भी विवेचन है प्रतिपादन है वह सब अशरूप होगा, इसी कारण वह मिथ्या है। उस परमार्थ स्वरूपके सम्बन्धमे निश्चयनय कुछ नही कहता, केवल व्यवहारनयकी कही हुई बातका निषेध करता है।

व्यवहारका परमार्थ प्रतिबोधनमें प्रयास—यहाँ यह न समझा चाहिए कि निश्चयनयने व्यवहारनयका निषेध किया तो व्यवहारनय मिथ्या ही कहता होगा सो भी एकान्त नही है। व्यवहारनय निश्चयनयके विषयको समझानेका भरसक प्रयास करता है। तो उसका प्रयास निश्चयनयके विषयके लिए हो रहा है, अतएव उसे एकान्ततः अयथार्थ नही कह सकते, अतएव प्रतिपादन ही यथार्थ नही हो पाता। दूसरी बात ऐसी भी जिज्ञासा हो सकती है कि जब निश्चयनय केवल निषेध ही करता है तो यह बतलायें कि कि निश्चयनयने क्या कहा ? और निश्चयनयका विषय क्या समझा जाय ? उत्तर तो प्रसङ्गमे स्पष्ट है। जो ही निश्चयनयका विषय है। और, इस विषयसे यही ध्वनित होता है कि पदार्थ अवक्तव्य स्वरूप है और पदार्थ अवक्तव्य है। इन शब्दोमे भी प्रतिपादन हुआ। ऐसा प्रतिपादन भी परमार्थनयको स्वीकार नहीं करता। पदार्थकी अवक्तव्यताका वर्णन भी तो वक्तव्य बन गया। तो ऐसा कोई सोच सकता था कि व्यवहारनय तो भेद करनेकी बात कहे और निश्चयनय उसे अवक्तव्य बता दे तो इतना भी बताना वक्तव्यपनेका सूचक बना, प्रतिपादन हुआ। किसी अशमें भेद बना तो यह भी परमार्थसे स्वीकार नहीं है। अवक्तव्य है निश्चय, इसकी सूचना निषेधसे स्वय हो जाती है। यो यह सिद्ध हुआ कि निश्चयनयका विषय व्यवहार निषेध्य है, और इसी प्रसङ्गमें यह भी जान लेना चाहिए कि निश्चयनय नयो का अधिपति है, इससे आगे और नय विकल्पका अवकाश नही है।

ननु चोक्तं लक्षणमिह नयोस्ति सर्वोपि किल विकल्पात्मा ।
तदिह विकल्पाभावात् कथमस्य नयत्वमिदमिति चेत् ॥६००॥

सर्व विवेचनोकी व्यवहारनयरूपता सिद्ध होनेपर निश्चयनयमे नय लक्षणत्वके अभावकी शका—शङ्काकार कहता है कि पहिले तो यह विवेचन किया गया था कि द्रव्यनय विकल्पात्मक होता है अर्थात् नयोका लक्षण ही विकल्प बताया था, लेकिन द्रव्यार्थिकनयका जो स्वरूप कहा जा रहा है अथवा निश्चयनयका जो विषय बताया जा रहा है उस प्रतिपादनसे तो यह स्पष्ट होता है कि इसमे विकल्प

तो कुछ पड ही नही रहा, क्योंकि निश्चयनयने तो केवल निषेध किया। विकल्प कुछ आया ही नही। तो जब निश्चयनयमे विकल्प न आया तो उसको नय कैसे कह दिया जायगा ? नयका जो लक्षण किया गया वह लक्षण घटित हो तब उसको नय कहना चाहिए। अब विकल्प निश्चयनयमे बता नही रहे तो निश्चयनयको नय न कहा जा सकेगा। अब इस शङ्काके समाधानमें कहते हैं।

तन्न यतोस्ति नयत्वं नेति यथा लक्षितस्य पक्षत्वात् ।
पक्षग्राही च नयः पक्षस्य विकल्पमात्रत्वात् ॥६०१॥

निश्चयनयके विषयका प्रतिपादन— आचार्यदेव कहते हैं कि उक्त शङ्काकारकी शङ्का संगत नही है अर्थात् निश्चयनय विकल्पात्मक नही है ऐसी उसकी दृष्टि अभी भ्रान्त है। क्योंकि निश्चयनयमे भी तो नहीं यह विकल्प आ रहा है, सो पहिले बताया ही गया कि निश्चयनयका वाच्य नही अर्थात् निषेध है। सो यह निषेध ही उसका एक पक्ष है। और पक्षका ग्राहक ही नय होता है और पक्ष ही विकल्पात्मक होता है। सो पहिले नयका लक्षण विकल्प बताया ही था। यहाँ निश्चयनयमे निषेध रूप विकल्प पडा है। जो किसी पक्षको ग्रहण करे ऐसे ज्ञानको अथवा उसका प्रतिपादन करने वाले वचनको नय कहते है, तो व्यवहारनयमे तो नाना भेद विषय पडे किन्तु निश्चयनय उस निषेधरूप पक्ष ही ग्रहणमे आया तो निषेध पक्ष तो आया वही निश्चयनयका विकल्प है। तो जैसे व्यवहारनय किसी भेदका धर्मका प्रतिपादन करने से विकल्पात्मक है यो ही निश्चयनय व्यवहारनयके विषयभूत पदार्थका निषेध बता रहा है सो वह भी विकल्पात्मक है। तो विकल्पात्मकपना लक्षण जैसे व्यवहारनय मे घटित होता है उसी प्रकार निश्चयनयमे भी घटित होता है। इस विषयको और भी सुनो।

प्रतिषेध्यो विधिरूपो भवति विकल्पः स्वयं विकल्पत्वात् ।
प्रतिषेधको विकल्पो भवति तथा सः स्वयं निषेधात्मा ॥६०२॥

विधिरूप प्रतिषेध्य व्यवहारनयकी विकल्परूपताकी तरह प्रतिषेधक निश्चयनयकी भी निषेधमय विकल्परूपता— जिस प्रकार व्यवहारनयका विषय प्रतिषेध्य कहा गया है वह विधिरूप विकल्प है स्पष्ट विकल्पात्मक होनेसे उसके विकल्पात्मकपनेमें सन्देह नहीं किया जा रहा इस ही प्रकार प्रतिषेधक जो रूप है निषेधात्मक जो आशय है वह भी विकल्परूप है। इन दो नयोके प्रसङ्गमे ये ही दो तत्त्व आये कि प्रतिषेध्य और प्रतिषेधक ये दो प्रकारके नय हैं। तो प्रतिषेध्यमे तो नाना विधिरूपताका पक्ष पडा है और प्रतिषेधकने निषेधरूप पक्ष पडा है तो किसी

पदार्थको ग्रहण कर उसीको नय कहते हैं तो यों व्यवहारनय भी नय है और विकल्पात्मक है इसी प्रकार निश्चयनय भी विकल्पात्मक है अतएव नय है।

तल्लक्षणमपि च यथा स्यादुपयोगो विकल्प एवेति।
अर्थानुपयोगः किल वाचक इह निर्विकल्पस्य ॥६०३॥

अर्थाकृतिपरिणमनं ज्ञानस्य स्यात् किलोपयोग इति।
नार्थाकृतिपरिणमनं तस्य स्यादनुपयोग एव यथा ॥६०४॥

नेति निषेधात्मा यो नानुपयोगः सबोधपक्षत्वात्।
अर्थाकारेण विना नेतिनिषेधावबोधशून्यत्वात् ॥६०५॥

प्रतिषेध्य और प्रतिषेधक दोनो नयोंकी विकल्पात्मकताका स्पष्टीकरण—उक्त प्रसङ्गमे यह बताया गया था कि व्यवहारनय प्रतिषेध्य है, निश्चयनय प्रतिषेधक है और दोनों ही विकल्पात्मक हैं। इसमे व्यवहारनय प्रतिषेध्य है और विकल्पात्मक है। इस सम्बन्धमे कोई शङ्का नही की गई किन्तु प्रतिषेधक निश्चयनय विकल्पात्मक कैसे हो गया ? यह शङ्का उठायी गई थी। और उसका समाधान यह दिया गया कि प्रतिषेधक नय भी विकल्पात्मक है इस ही भावको इन श्लोकों द्वारा स्पष्ट किया जाता है। देखिये! पदार्थका उपयोग हो उसीको तो विकल्प कहते हैं। विकल्पका अर्थ क्या है ? किसी पदार्थका ग्रहण होना, उपयोग होना यही तो विकल्प है और पदार्थका उपयोग न हो अनुपयोग रहे उसे निर्विकल्प कहते हैं। तब यहाँ यह निर्णय कर लीजिए कि वह उपयोग क्या है ? ज्ञानका पदार्थाकार परिणमन होना यही तो उपयोग कहलाता है। और जब ज्ञानका अर्थाकार परिणमन न हो, उसमें किसी पदार्थको ग्रहण न आये तो वह अनुपयोग कहलाता है। तो उपयोग और अनुपयोग कहलाता है। तो उपयोग और अनुपयोगकी ऐसी स्थिति है। अब यहाँ यह परख लीजिए। जैसे व्यवहारनयका विषय उपयोगरूप है, वहाँ अर्थाकारका विकल्प है तो यहाँ निश्चयनयका निषेधात्मक बोध है और वह निषेधक ज्ञान भी एक पक्ष है तो निश्चयनयमे प्रतिषेधका ग्रहण किया। तो यों निश्चयनयको अनुपयोगी नही कहा जा सकता, किन्तु वह भी उपयोग ही है। उपयोग उसे कहते हैं जिस ज्ञानमे पदार्थाकार परिणमन हो। तो निश्चयमें अगर निषेधात्मक रूपसे अर्थात् काल परिणमन न होता तो निषेधात्मक ज्ञान भी न हो सकता था, पर होता रहता है निश्चयनयके निषेधका ज्ञान। तो यही सिद्ध करते हैं कि निश्चयनय भी उपयोगात्मक है और उपयोगको ही विकल्प कहते हैं। यों यह सिद्ध हुआ कि व्यवहारनयकी तरह निश्चयनय भी

विकल्पात्मक होता है।

जीवो ज्ञानगुणः स्यादर्थालोकं विना नयो नासौ ।
नेति निषेधात्मत्वादर्थालोकं विना नयो नासौ ॥६०६॥

अर्थालोकके बिना प्रतिषेध्य व प्रतिषेधक दोनो नयोकी उपपत्ति न होनेसे विकल्पात्मकताकी सिद्धि व्यवहारनयके समान निश्चयनय भी विकल्पात्मक है इस बातका दृष्टान्त इस गाथामे दिया गया है। जिस प्रकार व्यवहारनय यह कहता है कि जीव ज्ञानगुण वाला है तो ऐसे कथनमे यह बात ज्ञात हुई कि यह नय पदार्थको विषय किए बिना नही हुआ। इसमे अर्थालोक पडा हुआ है। अर्थलोकका अर्थ यह है कि पदार्थका ज्ञान होना। तो जैसे व्यवहारनयमे अर्थालोक है, अर्थ प्रकाश के बिना व्यवहानयकी प्रवृत्ति नही है उसी प्रकार निश्चयनयका विषय है निषेध अर्थात् ऐसा नही है इस प्रकारका प्रतिषेधक नय निषेधको विषय करने वाला होता है। तो उसका विषय निषेध हुआ। निषेधरूप पदार्थका परिज्ञान हुआ तो निश्चयनय भी अर्थलोकके बिना नही होता। तात्पर्य यह है कि जैसे विषय बोध व्यवहारनयमे है उसी प्रकार विषय बोध निश्चयनयमे भी है, और विषय बोध होनेसे विकल्पात्मक हुआ और विकल्पात्मक होनेसे नयका लक्षण निश्चयनयमें भी घटित हो गया। अतः निश्चयनयको नयके लक्षणसे बहिर्भूत नही मान सकते।

स यथा शक्तिविशेषं समीक्ष्य पक्षश्चिदात्मको जीवः ।
न तथेत्यपि पक्षः स्यादभिन्नदेशादिकं समीक्ष्य पुनः ॥६०७॥

प्रतिषेध्य और प्रतिषेधक दोनो नयोमे पक्षग्राहिताकी समानता—निश्चयनयको विकल्पात्मक सिद्ध करनेके लिए उक्त गाथामे जो उदाहरण बताया है उसीका स्पष्टीकरण इस गाथामे किया जा रहा है। जीव ज्ञानगुण वाला है अथवा जीव चिदात्मक है ऐसा कथन व्यवहारनयका विषय है। तो यहाँ जीवकी विशेषशक्ति को देखकर यह समझा गया कि जीव चिदात्मक है। तो यह एक पक्ष ही तो हुआ तो अनन्त धर्मात्मक पदार्थोमेंसे किसी अंशका ही ग्रहण करना तो हुआ। तो जैसे यह भेदक विचार एक पक्ष है उसी प्रकार अभिन्न अखण्ड जीवको समझकर यह कहना अथवा समझना कि वैसा नही है अर्थात् व्यवहारनयने जो यह समझाया कि जीव चिदात्मक है तो निश्चयनय कहता है कि ऐसा नही है। तो ऐसा नही है ऐसी दृष्टि करनेमे भी तो कुछ विषय आया। वह भी तो एक पक्ष है। तो जैसे व्यवहारनयमे विधिका पक्ष है तो निश्चयनयमें निषेधका पक्ष है और जो पक्षका ग्रहण करे उसे नय कहते है। तो नयके लक्षणमे बताया गया पक्ष ग्राह्यता विकल्पात्मकता ये दोनो

निश्चयनयमे भी पाये जाते और व्यवहारनयमे भी पाये जाते । अत. निश्चयनयमें नय का लक्षण बराबर घटित होता है ।

अर्थालोक विकल्पः स्यादुभयत्राविशेषतोपि यतः ।
न तथेत्यस्य नयत्व स्यादिह पक्षस्य लक्षकत्वाच्च ॥६०८॥

प्रतिषेध्य और प्रतिषेधक दोनो नयोमे अर्थालोककी अविशेषता—उक्त गाथामे जो स्पष्टीकरण किया गया है उस हीको युक्तिपूर्वक यहा पुन बताते हैं । देखिये ! अर्थप्रकाश रूप विकल्प याने पदार्थ विषय हुए हैं इस प्रकारका विकल्प व्यवहारनय और निश्चयनय दोनोमे ही समान है । इसी कारण जैसे व्यवहारनय विधिको विषय करनेमे नय कहलाता है । उसमे नयका लक्षण सुघटित है इसी प्रकार वैसा नही है । इस प्रकारके निषेधका विषय किया निश्चयनयने तो ऐसा निश्चयनयमें भी नयपना है, क्योकि व्यवहारनयसे जैसे विधि पक्षका आलम्बन किया है उसी प्रकार निश्चयनयने निषेधपक्षका आलम्बन किया है । तो पक्षका आलम्बन करना व्यवहारके समान निश्चयनयमें भी घटित होता है । अत निश्चयनयको निर्विषय नही कह सकते, निर्विकल्प नही कह सकते और इसी कारण उसमे नयका लक्षण घटित नही होता, यह भी नही कह सकते, इससे यह सिद्ध है कि निश्चयनय निषेध करनेकी बात समझा कर भी नयरूप है । उसमे निषेधका विषय पडा हुआ है ।

एकाङ्गग्रहणादिति पक्षस्य स्यादिहांशधर्मत्वम् ।
न तथेति द्रव्यार्थिकनयोस्ति मूल यथा नयत्वस्य ॥६०९॥

दोनो नयोमे स्व-स्व पक्षका निर्देश—व्यवहारन की तरह निश्चयनय भी पक्षात्मक है-इस बातका वर्णन इस गाथामें किया गया है । पक्ष उसीको कहते हैं जो एक अङ्गको ग्रहण करे । तो व्यवहारनयमे किसी एक धर्मकी विधि की थी तो व्यवहारनयने एक अङ्गको ग्रहण किया । तो निश्चयनयने भी तथा न इस तरहके पक्षको ग्रहण किया और इस पक्षमे अशका ग्रहण है । तब निषेधका विषय करने वाला निश्चयनय भी एक अशको विषय करनेके कारण पक्षात्मक माना जाता है । निर्विकल्पता तो उनके कहना चाहिए जहां न विधिका पक्ष रहता है और न निषेधका पक्ष रहता है । वहां तो जो पदार्थ जैसा है वही मात्र मान रहे हैं । उसके सम्बन्धमे विधि या निषेध सम्बन्धी विकल्प तरग नही रहते । तो यों व्यवहारनयकी तरह निश्चयनय भी एक नय लक्षण युक्त सिद्ध होता है ।

एकाङ्गत्वमसिद्ध न नेति निश्चयनयस्य तस्य पुनः ।
वस्तुनि शक्तिविशेषो यथा तथा तदविशेषशक्तित्वात् ॥६१०॥

प्रतिषेधकनयमें एकाङ्गताकी सिद्धि—यहाँ कोई ऐसी आशङ्का न करे कि निश्चयनयमे एकाङ्गपना सिद्ध नही है। निश्चयनयमें भी एकागता बराबर है। निश्चयनयका विषय क्या ? निषेधका तथा न जैसे कि व्यवहार बताता है, वह नही, इस तरहके विषय करने वाले निश्चनयमे एकागता असिद्ध नही है इसका कारण है कि जैसे वस्तुमे विशेष शक्तियाँ होती हैं उस ही प्रकार उसमे अविशेष शक्ति भी होती है। पदार्थ सामान्य विशेषात्मक होता है और सामान्य विशेषात्मक पदार्थ ही प्रमाणका विषय है। अब उस वस्तुमे सामान्य अश तो द्रव्यार्थिकनयका विषय है। तबसे निश्चय नयका विषय कह लीजिए और विशेष अश पर्यायार्थिकनयका विषय है, इसीको व्यवहारनयका विषय कहियेगा। तो अब यहाँ यह परख लेंगे कि विशेषको विषय किया, इसमे वस्तुके एक अगको विषय किया और निश्चयनयने निषेधको विषय किया, तो विशेषका निषेधरूप अश है सामान्य अशमे सामान्य अशका विषय किया निश्चयनयने तो यो निश्चयनयमे भी एकागता सिद्ध ही है। तो निश्चयनयमे एकागपना सिद्ध है इसी कारण पक्षग्राह्यता सिद्ध है इसी कारण विकल्पात्मकता सिद्ध है। अतः निश्चयनयको नय कहना युक्तिसङ्गत ही है।

> ननु च व्यवहारनयः सोदाहरणो यथा तथायमपि ।
> भवतु तदा को दोषो ज्ञानविकल्पाविशेषतो न्यायात् ॥६११॥

> स यथा व्यवहारनयः सदनेकं स्याच्चिदात्मको जीवः।
> तदितरनयः स्वपक्षं वदतु सदेकं चिदात्मत्विवतिचेत् ॥६१२॥

निश्चयनयको सोदाहरण माननेकी आशका अब यहाँ शङ्काकार यह कह रहा है कि जैसे व्यवहारनयको उदाहरण सहित बताया अथवा यो कहा गया कि व्यवहारनय उदाहरण सहित हाता है तो इस ही प्रकार निश्चयनयको भी उदाहरण सहित माना जाय तो यो सिद्धान्त कहा जाय कि निश्चयनय भी उदाहरण सहित होता है। तब इसमें क्या दोष आता ? जब ज्ञान विकल्पकी अविशेषता दोनो जगह है, व्यवहारनयमे भी ज्ञान विकल्प बना हुआ है और निश्चयनयमे भी ज्ञान विकल्प बना हुआ है तो इस ज्ञान विकल्पकी समानताके कारण व्यवहारनयकी तरह निश्चयनयको भी उदाहरण सहित मान लिया जाना चाहिए, फिर उसका निषेध क्यो किया जा रहा है ? उदाहरण सहित कैसे मान लिया जाना चाहिए उसके लिए दृष्टात रूपमे सुनिये ! कि व्यवहारनयका उदाहरण रख लीजिए सत् अनेक है अथवा जीव चिदात्मक है। और निश्चयनयका उदाहरण रख लीजिए कि सत् एक है, जीव सत् है, तब यहाँ ऐसा यह देखेंगे कि व्यवहारनयने सत्को अनेक बताया तो उससे विपरीत निश्चयनय बता रहा है कि सत् एक है, तो व्यवहारनयका जैसे वह उदाहरण है तो

निश्चयनयका यह उदाहरण हो गया कि सत् एक है और जैसे व्यवहारनयमे यह उदाहरण था कि जीव चिदात्मक है ऐसे ही यहाँ निश्चयनयमे यह उदाहरण हो गया कि जीव चित स्वरूप है। तो ऐसा कहनेसे व्यवहारनयकी तरह निश्चयनय भी उदाहरण सहित हो जाता है। और, यह भी विदित हो जाता है कि निश्चयनय व्यवहारनयसे भिन्न है। व्यवहारनय और तरहसे विकल्पका कर्ता है, निश्चयनय उससे विपरीत विकल्पका कर्ता है। तब व्यवहारनयकी भाति निश्चयनयको भी सोदाहरण मान लेना चाहिए।

न यतः सङ्करदोषो भवति तथा सर्वशून्यदोषश्च ।
स यथा लक्षणभेदाल्लक्ष्यविभागोस्त्यनन्यथासिद्धः ॥६१३॥

दोनो नयोमे लक्षणभेद न मानकर समानता माननेपर दोषापत्ति बताते हुए उक्त शकाका समाधान—उक्त शङ्काके समाधानमे इस गाथामे यह कहा जा रहा है कि यदि व्यवहारनयकी भाँति निश्चयनयको भी उदाहरण सहित मान लिया जाता है तब सकर दोष और सर्व शून्यताका दोष आनेकी नौबत आती है, क्यो कि व्यवहारनयका मूल लक्षण यह है कि जो भेद करे सो व्यवहारनय है। और, यहाँ निश्चयनयको उदाहरण सहित मान लेनेपर भेद बन जाता है। तो यहाँ भी भेद का ही ग्रहण हुआ। तो व्यवहारनय और निश्चयनयमे फिर कोई अन्तर नही रहता। यो सकर दोष आयगा। व्यवहार और निश्चय दोनो एकमेक बन गए और तब सकर दोष हो गया। व्यवहार निश्चय बन गया, निश्चय व्यवहार बन गया तो क्या रहा? कुछ न रहा। यो सर्वशून्यताका दोष आता है। अब इस बातको सुनिये! कि उदाहरण सहित निश्चयनयके प्रतिपादनमे भेद कैसे सिद्ध होता है। जैसे निश्चयनयका उदाहरण दिया कि सत् एक है तो यहा यह निहार लीजिए कि सत् तो बन गया लक्ष्य और एक बन गया लक्षण, जिसके विषयमे कहा जा रहा है वह तो है लक्ष्य और जो कुछ बात बताई जा रही वह है लक्षण, तो सत् एक है ऐसे कथनमे लक्ष्य लक्षण का भेद सिद्ध होता है, और जो भेदको विषय करे उसे व्यवहारनय कहा गया है। यो निश्चयनय और व्यवहारनयमे सकर दोष हो जाता है। इसी प्रकार दूसरे उदाहरण मे भी देखिये! निश्चयनयका दूसरा उदाहरण शङ्काकारने यह दिया है कि जीव चित है। तो जीवको चित स्वरूप कहने पर भी जीव तो लक्ष्य सिद्ध होता है और उसका लक्षण चित सिद्ध होता है। तो, जीव लक्ष्य है चित् लक्षण है, इस तरह लक्ष्य लक्षण रूप भेद यहाँ बन गया। और, जितना भी भेद है वह व्यवहारनयका विषय होगा। भेद निश्चयनयका विषय नहीं होता। अब यदि निश्चयनयको उदाहरण सहित मान लिया जानेके कारण निश्चयनयका भी विषय भेद मान लिया जाता है तो संकरपना और सर्व शून्यता ये दोनो यहाँ भली प्रकार सिद्ध हो जाते हैं। तब न निश्चय रहा

और न व्यवहारमय रहा। फिर लोक व्यवहारकी पद्धति भी नष्ट हो जायगी। अतः यह बात मान लेना चाहिए कि निश्चयनयका विषय निषेध नही है और वहाँ उदाहरण नही। निश्चयनय उदाहरण रहित है और किसी भी प्रकार प्रतिपादनके योग्य नही है।

लक्षणमेकस्य सतो यथाकथञ्चिद्यथा द्विधाकरणम्।
व्यवहारस्य तथा स्यात्तदितरथा निश्चयस्य पुनः ॥६१४॥

व्यवहारनय व निश्चयनयके लक्षणमें परस्पर सप्रतिपक्षता – व्यवहारनयका लक्षण तो यह है कि एक ही अखण्ड सत् पदार्थमे जिस किसी भी प्रकार आवश्यक समझा जाय वहाँ भेद कर देना अर्थात् सत्‌मे भेद बतलाना व्यवहारनयका लक्षण है। अब देखिये! निश्चयनयका लक्षण ठीक इससे विपरीत है। सत्‌में अभेद बतलाना यह निश्चयनयका लक्षण है। तो भेदकी बात तो बतलायी जा सकती है। अभेदकी बात भेद किए बिना समझाई नही आ सकती और भेद करके समझाया गया तो इसका अर्थ यह हुआ कि व्यवहारनयके द्वारा परमार्थके विषयको समझा गया है, पर परमार्थका विषय सीधे किन्ही शब्दोसे बता दें ऐसा नही हो सका है। तो इससे यह सिद्ध है कि व्यवहारनयमे तो उदाहरण हो सकता है। क्योकि उदाहरण तो भेद सिद्ध करता है पर निश्चयनयका उदाहरण नही होता, न इसमें विशेषण विशेष्य भाव बन सकता। उदाहरण हो और विशेषण विशेष्य भाव बने तो वह सब व्यवहारनय बन जायगा।

अथ चेत्सदेकमिति वा चिदेव जीवोथ निश्चयो वदति।
व्यवहारान्तर्भावो भवति सदेकस्य तद्द्विधापत्तेः ॥६१५॥

निश्चयनयको वचन प्रयोगमे उदाहृत किये जानेपर अनिष्ट दोषापत्तिका प्रसग—यदि शङ्काकारके कथनके अनुसार सत्‌को एक मान लिया जाय अथवा चित् ही जीव है ऐसा मान लिया जाय और इसका निश्चयनयका उदाहरण बताया जाय तो व्यवहारनय और निश्चयनयमे कुछ भी भेद न रहेगा। ये जो दो उदाहरण शङ्काकारने दिया है वे उदाहरण तो व्यवहारनयमे ही गर्भित हैं। सत् एक है ऐसा कहनेपर भेद तो सिद्ध हो ही गया। यह सत् फिर एक है। वहाँ कल्पनामे दो जगह उपयोग बना। तो वह व्यवहारनयका विषय हुआ और जब कहा जीव सत् है तो यो जीवको चित्स्वरूप कहनेसे भी जीवमे भेद ही सिद्ध होगा। तो यो निश्चयनयका कुछ भी उदाहरण दिया जाय तो वह भेदपरक हो जानेसे व्यवहारनयका ही उदाहरण बनेगा, निश्चयनयका उदाहरण न कहा जा सकेगा। शङ्काकारने निश्चयनयमे

जो दो उदाहरण दिया है, सत् एक है और जीव चित् है, ये दोनो ही उदाहरण व्यवहारनयके बनते हैं निश्चयनयके नहीं। यह बात किस प्रकार घटित है सो अगली गाथा में बताते हैं।

एवं सदुदाहरणे सल्लक्ष्यं लक्षणं तदेकमिति ।
लक्षणलक्ष्य विभागो भवति व्यवहारतः स नान्यत्र ॥६१६॥

अथवा चिदेव जीवो यदुदाह्रियतेप्यभेदबुद्धिमता ।
उक्तं वदत्रापि तथा व्यवहारनयो न परमार्थः ॥६१७॥

सत् एक है यों निश्चनयका उदाहरण माननेपर होने वाली दोषापत्तिका विवरण—शङ्काकारका जो उदाहरण है निश्चयनयके सम्बन्धमे कि सत् एक है तो इसमे देखिये ! कैसे दोष आ रहा है। जहाँ यह कहा कि सत एक है वहाँ सत तो बन गया लक्ष्य और एक हो गया, किन्तु लक्षण और लक्ष्यका भेद व्यवहार नयमे ही होता है, निश्चयनयमे नही होता। शङ्काकारने दूसरा उदाहरण दिया है निश्चयके सम्बन्धमें कि जीव चित है। तो यहाँ भी परख लीजिए कि जीव तो हो गया लक्ष्य और चित बन गया लक्षण, तो यहाँ भी लक्ष्य लक्षणका भेद बन गया और जो भेदका विषय करे उसे व्यवहारनय कहते हैं। यद्यपि शङ्काकारने इन दोनो उदाहरणोंका बहुत प्रयास करके भेद बुद्धिकी ओर लाकर बताया होगा लेकिन उसका सयुक्तिक विचार करनेपर यह ही सिद्ध होता कि उदाहरण मात्र ही भेदको उत्पन्न कर देता है। वह कितना भेद परक उदाहरण है यह बात तो अलग है, यह तो एक उसकी मीमासाकी बात है, लेकिन उदाहरण देते ही यहाँ भेद सिद्ध हो जाता है, और जो भेद है वह व्यवहारनयका विषय है, निश्चयनयका विषय नही है इससे यह मानना चाहिए कि जितने भी भेद व्यवहार हैं वे सब व्यवहार ही हैं।

एवं सुसिद्धसंकर दोषे सति सर्वशून्यदोषः स्यात् ।
निरपेक्षस्य नयत्वाभावात्तल्लक्षणाद्यभावत्वात् ॥६१८॥

उक्त प्रकार व्यवहार व निश्चयनयमे सकरदोष होनेपर सर्व शून्यताके दोषकी प्रसक्ति—व्यवहारनयकी भाँति निश्चयनयको भी सोदाहरण मान लेनेपर सर्व सकर दोष हो जाता है, तो व्यवहारनय और निश्चयनय दोनो एकमेक हो जाते हैं उनमे विषयभेद नही रहता और यो सकर दोष होनेपर यहाँ सर्व शून्यताका दोष आता है। हाँ यह बात तो जरूर थी कि व्यवहारनय उदाहरण सहित है और व्यवहारनय निश्चयनयकी अपेक्षा रखकर प्रयुक्त होता है, क्योकि निरपेक्ष निश्चयनयका

प्रयोग गुणकारी नही होता, उसमे नयपनेका लक्षण नही आता। लोकव्यवहार नयकी भाँति निश्चयनयको भी उदाहरण सहित मान लिया जाय तो उदाहरण देनेमे तो भेद ही बनता है। और भेद जैसे व्यवहारनयका विषय हो वैसे ही उदाहरण देनेके निश्चयनयमे भी विषय बन गया। तो अब यह कैसे कहा जा सकेगा कि यह तो व्यवहारनय है और यह निश्चयनय है? जब व्यवहारनय और निश्चयनयमे सकरपना आ गया तो उनमेसे कौन टिके? और कौन मिटे? फल यह होगा कि न व्यवहार नय रहेगा और न निश्चयनय रहेगा! यो सर्वशून्यताका दोष आता है। इस कारण यह निर्णय रखना चाहिए कि भेद विषय वाला तो व्यवहारनय है और अभेद विषय वाला निश्चयनय है। अथवा विधिपरक तो व्यवहारनय है और निषेधको ही विषय करने वाला निश्चयनय है। विशेषण विशेष्यभाव और उदाहरण व्यवहारनयमे सभव हैं।

ननु केवलं सदेव हि यदि वा जीवो विशेषनिरपेक्षः।
भवति च तदुदाहरणं भेदाभावात्तदा हि को दोषः ॥६१९॥

अपि चैवं प्रतिनियत व्यवहारस्यावकाश एव यथा।
सदनेकं च सदेकं जीवश्चिद्द्रव्यमात्मवानिति चेत् ॥६२०॥

केवल सत् है या जीव है? यो निश्चयनयका उदाहरण मान लेनेका शङ्काकार द्वारा प्रतिपादन—अब यहाँ शङ्काकार कहता है कि यहाँ सत् एक है ऐसा कहनेसे भी व्यवहारनय बना दिया। जीव चित् है, इस कथनको भी व्यवहार नयने बता दिया, क्योकि यहाँ शब्द दो बोले गए हैं। जब उनमे विशेषण विशेष्यभाव पना डाल दिया है, और यो भेद डालकर उसे निश्चयनयका उदाहरण नही माना जा रहा है तो चलो मत मानो! लेकिन इतना तो मान लो कि निश्चयनयका उदाहरण केवल सत् इतना भर कहना है। सत् इतना ही शब्द बोल देनेपर अब विशेषण विशेष्य भाव कहाँ बनेगा? और उसका उदाहरण भी क्या मिलेगा? तब तो इसको निश्चयनय समझ लीजिये! तो यहाँ जब सत् इतना ही कहा तब कोई दोष नही आता! इसी प्रकार जीव चित् है इतना कह देने भरसे उदाहरण और विशेषण विशेष्य भावकी कल्पना करके इसे भी निश्चयनयका विषय नही मानते तो चलो मत मानो! किन्तु 'जीव' इतना भर शब्द तो निश्चयनयका विषय बन जायगा, फिर तो कोई दोष नही आता। व्यवहारनयका अवकाश तो वहाँ है जहाँ भेद नजर आता हो। सत् एक है, इतना कहनेमे भी भेद डाल दिया और उसे व्यवहारनय बना दिया। लेकिन 'सत्' इतना कहनेमे क्या भेद डालोगे? वह तो व्यवहारनयका विषय न बनेगा। उसे तो निश्चयनयका उदाहरण मानो इसी प्रकार जीव चित्स्वरूप है, इसमे

भेद डाल दिया, और उसे व्यवहारनयका विषय बना दिया। लेकिन कोई यह कहे कि जीव तो इतना कहने भरसे तुम क्यों नहीं निश्चयनयका उदाहरण मान लेते ? तो ये निश्चयनयके उदाहरण हैं, और आपको इस तरह निश्चयनयको उदाहरण सहित मान लेना चाहिए। अब इस शङ्काका उत्तर कहते हैं।

न यतः सदिति विकल्पो जीवः काल्पनिक इति विकल्पश्च।
तत्तद्धर्मविशिष्टस्तदानुपचर्यते स यथा ॥६२१॥

उक्त उदाहरणोंकी भी धर्मोपचार होनेसे निश्चयनयकी अविषयता — उक्त गाथामें शङ्काकारने यह कहा है कि जीव है, सत् है चित् है आदिक रूप तो निश्चयनयके विषय हो जाना चाहिए। उस शङ्काके समाधानमें यह गाथा कही गई है। शङ्काकारकी उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि सत् इतना भी कोई विकल्प पड़े अथवा जीव इतना भी कोई विकल्प हो तो ये दोनों ही विकल्प कल्पित हैं अर्थात् किसी अर्थको लेकर, विशेषण भावको लेकर यह शब्द बना है। भिन्न-भिन्न धर्मोंसे युक्त होनेके कारण उन उन धर्मों वाला बताया जाय पदार्थ तो यह उपचारसे कहा जायगा। जिस धर्मकी जब विवक्षा होती है उस धर्मसे युक्त वस्तुको कहना यह उपचारसे होता है। यद्यपि शङ्काकारने विशेषण वाला द्वितीय शब्द हटाकर केवल यही प्रयोग किया कि सत् है, जीव है, लेकिन इतना भी कहनेपर भिन्न धर्मका संकेत होता है। और उस धर्मसे युक्त पदार्थका निर्देश होता है अतएव यहाँ भी भेद उपस्थित हो ही गया, और जहाँ भेद आये उसको व्यवहार कहते हैं। इस कारण सत् है जीव है, इतना भी प्रयोग निश्चयनयमें होता नहीं है।

जीवः प्राणादिमतः संज्ञाकरणं यदेतदेवेति।
जीवनगुणसापेक्षो जीवः प्राणादिमानिहास्त्यर्थात् ॥६२२॥

निश्चयनयके उक्त उदाहरणमें धर्मोपचारका स्पष्टीकरण—जीव है, सत् है, ऐसा एक एक शब्द कहनेमें भी धर्मका उपचार होता है, यह बात जो उक्त गाथामें कही गई है उसका स्पष्टीकरण इस गाथामें किया गया है। जैसे कहा जीव है तो जीवका अर्थ क्या है ? जो प्राणोंको धारण करे उसको जीव कहते हैं। या जो जीवन गुणकी अपेक्षा रखे उसे जीव कहते हैं। तो लो यहाँ जीव मात्र ही कहा तो भी यह बोध हुआ कि जो प्राणोंसे युक्त हो सो जीव है, अथवा जिसमें जीवत्व गुण हो सो जीव है। तो यहाँ प्राणादिमान होना या जीवन गुण सापेक्ष होना यह बात तो शब्द बोलनेसे ध्वनित हो गई। तो लो, अब भेद आ गया कि यह पदार्थ भी है जो प्राणोंसे जीता है, अथवा जिसमें जीवन गुण रहता है, ये सब बातें केवल एक शब्द कहनेपर

भी आ जाती है। तो यो कुछ भी उदाहरण देवें वे सब भेद साधक है और जो भेद साधक वचन है वे सब व्यवहारनयमे ही गर्भित हैं।

यदि वा सदिति सत्सतः स्यात्संज्ञा सत्तागुणस्यसापेक्षात् ।
लब्धं तदनुक्तमपि सद्भावात् सदिति वा गुणो द्रव्यम् ।।६२३।।

गुणसापेक्षता होनेसे उक्त उदाहरणकी निश्चयनयविषयता—एक शब्द बोलनेपर भी धर्म विशिष्ट वस्तुका बोध होता है और वहाँ उस धर्मका वस्तुमे उपचार बनता है इसके स्पष्टीकरणके लिए इस गाथामे द्वितीय उदाहरणमे आलोचना की गई है। जैसे यह कहा गया कि सत् है तो सत् यह नाम सत् गुणकी अपेक्षा रखने वाले पदार्थका है। याने जिसमे सत्त्व गुण हो उसे सत्त्व कहते हैं। सत् गुण न कहे तो भी और बात न कहनेपर भी यह बोध तो हो ही गया कि अस्तित्व गुणसे सहित है। तो यहाँ सत्मे सीधा यह विकल्प नही उठाया कि वह द्रव्य है या गुण है तो भी बिना ही कहे भी सत् इतना मात्र कहनेसे यह विकल्प उठ जाता है। यह पदार्थ सत् है इसका भाव यह है कि यह पदार्थ अस्तित्व गुणसे युक्त है। इसमे सत्ता धर्म पाया जाता है और इस तरहकी दृष्टि रखनेसे यहाँ भेदका बोध हो गया। पदार्थ है उसमे सत्त्व गुण है। तो लो सत्त्व गुण और वह गुणी पदार्थ ऐसे वह दो भेद कर दिए गए। इससे समझना चाहिए कि जितने भी विकल्पात्मक ज्ञान हैं अथवा भेद साधक विज्ञान है वह सब व्यवहारनयका विषय होता है। देखो ना, केवल इतना ही कहा कि सत् लेकिन विद्वान श्रोताओको तो यह भास ही जायगा कि यह कहा जा रहा है। जिसमे सत्त्व गुण है ऐसा यहाँ पदार्थ है तो गुण गुणीका भेद हो ही गया और यह भेद व्यवहारनयका विषय है इस कारण इसको निश्चयनयका उदाहरण नही कहा जा सकता है।

यदि च विशेषणशून्यं विशेष्यमात्रं सुनिश्चयस्यार्थः ।
द्रव्य गुणो न य इति वा व्यवहारलोपदोषः स्यात् ।।६२४।।

विशेषण शून्य विशेष्यमात्रको निश्चयनयका उदाहरण माननेकी समालोचना—यदि कोई शङ्काकार यहाँ ऐसी मनमे शङ्का रखे कि किसी शब्दके बोलनेपर कोई विशेषण वाली बात ही दृष्टिमे आ जाती है तो इस स्थितिमे दिमागको नही लगाया। शब्द तो बोल दे, पर विशेषण रहित विशेष्यका ही ध्यान रखे तो यो विशेषण रहित विशेष्य तो निश्चयनयका विषय मान लिया जायगा। यदि कोई विवेकी ऐसा अपना विवेक बनाये तो सुनो ! इस तरह ही दृष्टि बनाकर अथवा विशेषण रहित विशेष्यको ही दृष्टिमे रखकर वह कुछ आगे बढ रहा है तो इस स्थितिमे चाहे द्रव्य और गुणकी सिद्धि हो जाय परन्तु पर्याय तो सिद्ध होगी ही नही। जो शब्द

बोला उस शब्दमें जो विशेषण ध्वनित होता है उसको तो दृष्टिमें लेना ही नहीं है इस आग्रही शङ्काकारको और उस शब्दके द्वारा धर्म विशिष्ट जो धर्मी समझा जाता है केवल उस विशेष्यको ही वाच्य समझना है तब तो शब्दार्थ भी खतम हुआ, विशेषण-भाव न रहा, पर्याय भी सिद्ध न हो सका। तो यों जब पर्यायें भी सिद्ध न हो सकेंगी तो व्यवहार कहाँ रहेगा ? उसका ही लोप हो जायगा। जैसे मानो कहा जीव और जीव शब्दका अर्थ यह है कि जो चैतन्य प्राणसे जीवे या द्रव्य प्राणोंसे जीवे, जहाँ जीवन गुणकी बात हो उसको जीव कहते हैं। अब शब्द बोलकर जीवकी विशेषता तो दृष्टिमें रखी नहीं, फल क्या हुआ ? असाधारण धर्म गायब हो गया। जब असाधारण धर्मका ही ध्यान न रहा तो असाधारण धर्म विशिष्ट ही तो गुण द्रव्य जाना जाता है। किसी पदार्थकी पहिचान असाधारण धर्मसे होती है। अब यहाँ असाधारण धर्मका तो ख्याल ही नहीं किया जा रहा है तो फिर द्रव्यका भी बोध कैसे हो ? गुणका भी बोध कैसे हो ? फिर तो कहीं बोध हो ही नहीं सकता। सर्व प्रकारकी तीर्थ प्रवृत्तिका लोप होगा, व्यवहारका भी लोप होगा, व्यवहारका भी लोप हो जायगा। यह एक महान दोष आता है यदि विशेषण रहित विशेष्यको ही निश्चयनय का विषय स्वीकार किया जाता है।

तस्मादवसेयमिदं यावदुदाहरणपूर्वको रूपः ।
तावान् व्यवहारनयस्तस्य निषेधात्मकस्तु परमार्थः ॥६२५॥

सोदाहरणरूपोंकी व्यवहारनयरूपता व निश्चयनयकी निषेधात्मकता का निर्णय—इस कारण ऐसा ही निर्णय रखना चाहिए कि जितना भी उदाहरण पूर्वक कथन बनेगा वह सब व्यवहारनय बनेगा। क्योंकि कथनमें कोई शब्द ही तो बोला जायगा और शब्द धातु निष्पन्न होता है। धातु किसी एक अपनी क्रियाको बताता है। उस क्रियामें रहने वालेको धातु निष्पन्न शब्द बताते हैं तो शब्दों द्वारा कोई विशेषणकी बात ही तो प्रकट हुई। ऐसी स्थितिमें अंश ही जाना गया, भेद ही समझा गया। तब कुछ भी उदाहरण दें कुछ भी वचन बोलें उस वचनमें भेद ही सिद्ध होगा। और, भेद सिद्ध होनेके कारण वह व्यवहारनय बनेगा। फिर निश्चयनय क्या बनेगा ? तो यही कहना पड़ेगा कि व्यवहारका जो निषेधक हो सो निश्चयनय है। निश्चयनयमें लक्ष्य कुछ न रहा हो ऐसी बात नहीं है। निश्चयनयमें लक्ष्य है। किसी का बोध है जिसके बलपर ही तो व्यवहारका निषेध किया जा रहा है। यदि कोई किसी सम्बन्धमें यह कहे कि ऐसा नहीं है तो ऐसा कहने वालेके यह ज्ञान तो बना ही है कि ऐसा है। भले ही उसे न कहे, पर तथ्य मालूम हो तभी कोई अतथ्यका निषेध कर सकता है कि ऐसा नहीं है। निश्चयनयमें तथ्यका पता है, उस अखण्ड सत्का परिचय है, जिसके बलपर ही यह निश्चयनय निषेध करता है व्यवहारका कि ऐसा

नही है। तो निश्चयनयका विषय निषेध है और व्यवहारनयका विषय भेद है। जो भेदको सिद्ध करे सो व्यवहारनय है और जो व्यवहारका निषेध करे सो निश्चयनय है।

ननु च व्यवहारनयो भवति च निश्चयनयो विकल्पात्मा।
कथमाद्यः प्रतिषेध्योऽस्त्यन्यः प्रतिषेधकश्चकथमिति चेत् ।६२६।

व्यवहारनय व निश्चयनय दोनोके विकल्पात्मक होनेपर व्यवहारको प्रतिषेध्य व निश्चयनयको प्रतिषेधक माननेके कारणकी जिज्ञासा— शङ्काकार यहाँ अपना एक प्रश्न रख रहा है कि जब व्यवहारनय भी विकल्पात्मक है और निश्चयनय भी विकल्पात्मक है फिर यह भेद कैसे बन गया कि व्यवहारनय तो प्रतिषेध्य होता है और निश्चयनय उसका प्रतिषेधक होता है। तब दोनो ही नय विकल्पात्मक है। दोनो नयोकी विकल्पात्मकता भली प्रकार सिद्ध की गई है। यद्यपि निश्चयनका विषय निषेध कहा है इतनेपर भी विकल्पात्मक भी सिद्ध किया गया। निश्चयनयमे न का तो बोध हुआ। तो निषेधरूप विकल्पका करने वाला निश्चयनय है इस बातका भले प्रकार समर्थन किया गया है। तो जब व्यवहारनय भी विकल्पात्मक है और निश्चयनय भी विकल्पात्मक है फिर यह भेद कैसे डाला जा रहा है कि व्यवहारनय तो निषेध करने योग्य है और निश्चयनय उसका प्रतिषेधक है। कोई उल्टा कहदे कि व्यवहारनय तो निषेधक है, निश्चयनय निषेध्य है विकल्पात्मककी समानता होनेपर फिर उनमे एक कोई प्रतिषेध्य हो दूसरा प्रतिषेधक हो यह अन्तर कैसे बना ? अब इस शङ्काके उत्तरमें कहते है।

न यतो विकल्पमात्रमर्थाकृतिपरिणतं यथा वस्तु।
प्रतिषेध्यस्य न हेतुश्चेदयथार्थस्तु हेतुरिह तस्य ।।६२७।।

व्यवहारके प्रतिषेध्यत्वमे अयथार्थताकी कारणरूपता—शङ्काकारने जो उक्त शङ्का की है वह बिना विचारे की है। तथ्य यह है कि व्यवहार प्रतिषेध्य है और निश्चयनय प्रतिषेधक है ऐसा अन्तर होनेका कारण यथार्थता और अयथार्थता है, विकल्पात्मकपना नही है। विकल्पात्मकपना होनेसे ही कोई प्रतिषेधक बने और कोई प्रतिषेध्य बने तब तो उक्त शङ्का ठीक हो सकती थी, लेकिन विकल्पात्मकताके आधार पर तो यहाँ प्रतिषेध्य और प्रतिषेधकपनेकी बात ही नही है, किन्तु जहाँ अयथार्थता है वह प्रतिषेध्य है, जहाँ अयथार्थता नही है वह प्रतिषेधक है। प्रतिषेध करने वाले नयमे भी विकल्प पड़ा है लेकिन वह विकल्प निषेधक है और व्यवहारनयमे भी विकल्प पडा है, वह विकल्प प्रतिषेध्य है। अब इस ही तथ्यको अगली गाथामें

स्पष्ट करते हैं।

व्यवहारः किल मिथ्या स्वयमपि मिथ्योपदेशकश्च यतः।
प्रतिषेध्यस्तस्मादिह मिथ्यादृष्टिस्तदर्थदृष्टिश्च ॥६२८॥

व्यवहारके प्रतिषेध्यत्वमें मिथ्योपदेशकत्वकी कारणता—व्यवहारनय मिथ्या होता है, क्योंकि वह स्वय मिथ्या उपदेश करने वाला है। और, इसी कारण से व्यवहारनय अर्थात्, मिथ्योपदेशक वचन प्रतिषेध्य हैं दूर करने योग्य हैं और ऐसे व्यवहारनयके विषयपर जो दृष्टि देते हैं, तद्रूप श्रद्धा करते हैं वे मिथ्यादृष्टि जीव हैं। जैसे कहा जीव ज्ञानवान है, तो ऐसा कथन करके जीवके स्वरूपपर दृष्टि पहुंचाने का प्रयास किया गया है। और, यहा प्रयास निश्चयनयके विषयका लक्ष्य करनेके लिए किया गया है। जीव परमार्थसे कैसा है मैं कैसा हू ऐसा समझनेके लिए इस व्यवहारनयका प्रयास हुआ है कि मैं ज्ञानमात्र हू, मैं ज्ञानवान हूँ। लेकिन उस प्रयोजन को भूल जायें कोई और व्यवहारनयने जिस विधिसे कुछ कहा है उस ही विधिका आग्रह करले जैसे कि इस प्रसङ्गमे यह कहा गया कि जीव ज्ञान वाला है तो व्यवहारनयसे यह समझाया कि जीव एक पदार्थ है, ज्ञान भी एक पदार्थ है और ज्ञान जीव मे पाया जाता है ऐसा यदि कोई समझले तो भी जीवके तथ्यपर तो नही पहुचे। बल्कि उसे जीवसे निराला और ज्ञानसे निराला समझ लिया। और, ऐसा यदि कोई समझ रखे तो उसे सम्यग्दृष्टि तो न कहा जा सकेगा। तो व्यवहारनय जिन वचनोंमे अपना विषय कहता है उन वचनोका जितना अर्थ है उतने ही अर्थका अनुसरण करके केवल वही मान लेवे और प्रयोजनको भूल जाय तो उसका यह कथन मिथ्या हो जाता है। और, इसी कारण यह प्रतिषेध्य है जैसे कि निश्चयनयने बताया कि व्यवहारनयने जो कहा है सो परमार्थसे नहीं है। तो यो व्यवहार प्रतिषेध्य बना, अब उस व्यवहारनय पर ही जो चले अनुसरण करे ऐसी श्रद्धा रखने वाला पुरुष मिथ्यादृष्टि है, उसको शान्तिका मार्ग मिलना असम्भव है।

स्वयमपि भूतार्थत्वाद्भवति स निश्चयनयो हि सम्यक्त्वम्।
अविकल्पवदतिवागिव स्यादनुभवैकगम्यवाच्यार्थः ॥ ६२९ ॥

यदि वा सम्यग्दृष्टिस्तद्दृष्टिः कार्यकारी स्यात्।
तस्मात् स उपोदयोनोपादेयस्यदन्यनयवादः ॥ ६३०॥

निश्चयनयकी यथार्थता व उपादेयता—निश्चयनय स्वय यथार्थ विषयको प्रतिपादन करने वाला है, इसी कारण उसे भूतार्थ कहते हैं और वह सम्यकरूप होता

है। इस ही निश्चय तत्त्वके आश्रयसे सम्यक्त्व प्रकट होता है। यद्यपि यह निश्चयनय विकल्पात्मक है इसने निषेधरूप विकल्प पड़ा है तो भी वह अविकल्प जैसा ही होरहा है, क्योंकि निश्चयनय सब प्रकारके भेद विकल्पोंका निषेध करने वाला है। तो जहाँ समस्त भेददृष्टिसे हटाया वहाँ जो दृष्टिमे आया, दृष्टिमे आया इस कारण तो विकल्पात्मक है परन्तु वहाँ कोई विधिविकल्प है नही, इस कारण अविकल्प जैसा ही प्रतीत होता है। निश्चयनय वस्तुत. वचनके अगोचर है। यद्यपि निश्चयनयका विषय यहाँ निषेध बताया गया है, वह प्रतिषेधगम्य है। यो निषेधरूप वचनको उसका विषय बताया है फिर भी वह वचनके अगोचर जैसा ही है। निश्चयनयका वाच्य क्या है ? इस नयने किस विषयको समझा है ? यह बात तो अनुभवगम्य है। अनुभवसे निश्चय नयके विषयका बोध होता है। यद्यपि अनुभवकी दशा निर्विकल्प दशा है और निश्चय नयकी दशा सविकल्प दशा है फिर भी निश्चयनयके प्रकरणमे कौन सा तत्त्व आया ? इसका स्पष्ट परिचय अनुभवका ही हो पाता है। अतएव निश्चयनय वचनके अगोचर माना गया है। वचनके द्वारा जो कुछ कहा जायगा वह समस्त विवेचन किसी न किसी प्रकारसे बोधरूप ही होगा और वह विवेचन व्यवहारनयका ही विषय बनेगा। अत यह निर्णय बना कि निश्चयनय निषेधरूपमे ही वक्तव्य है। विशेष निश्चयनय वचनके अगोचर है, ऐसा निश्चयनयके विषयका श्रद्धान करने वाला जीव सम्यग्दृष्टि है और वही कार्यकारी है। अपनी अनन्त प्रभुताका विकास कर सदाके लिए ज्ञानानन्दमय हो जाता है। तो जिसकी दृष्टि जिसके आश्रयसे निर्मल पर्यायोका प्रवाह चल उठता है ऐसा वह निश्चयनय उपादेय कहा गया है। और इस निश्चयनयके अतिरिक्त जितने भी नयवाद हैं वे व्यवहारवाद हैं और अग्राह्य है। उसके विषयभूत भेदका आश्रय करनेसे शान्ति अथवा मोक्षकी अवस्था प्रकट नही होती है। यो निश्चयनय यथार्थ है और व्यवहारनय मिथ्या है। इसी कारण निश्चयनयको प्रतिषेधक कहा है और व्यवहारनयको प्रतिषेध्य कहा है।

ननु च व्यवहारनयो भवति स सर्वोऽपि कथमभूतार्थः।
गुणपर्ययवद्द्रव्य यथोपदेशात्तथानुभूतश्च ॥ ६३१ ॥

अथ किमभूतार्थत्वं द्रव्याभावोऽथवा गुणाभावः।
उभयाभावो वा किल तद्योगस्यात्पृभावसादिति चेत् ॥ ६३२ ॥

वस्तुस्वरूपप्रतिपादक व्यवहारनयकी अभूतार्थताके कारणकी जिज्ञासा यहाँ शङ्काकार कहता है कि व्यवहारनय सारा ही कैसे अभूतार्थ हो जायगा ? जैसे व्यवहारनयमे यह उपदेश है कि द्रव्य गुण पर्याय वाले होते हैं और ऐसा उपदेश सर्वज्ञदेव और महर्षियो द्वारा हुआ है और अनुभव भी यह बताता है कि प्रत्येक पदार्थ

गुण पर्यायात्मक होता है। केवल गुण रूप ही पदार्थ नही अर्थात् वहाँ यदि परिणमन नही है तो कुछ भी सत्त्व नही है और यदि गुण नहीं है तो परिणमन ही क्या हो ? वहाँ भी सत्त्व न रहेगा। तो गुण पर्याय वाला द्रव्य है ऐसा जो उपदेश है वह व्यवहारनयका उपदेश है। अब यहाँ कोई यह बताये कि इस उपायमे गलती क्या है और किस बातसे यह व्यवहारनय अभूतार्थ बन जाता है बताये ? कोई कि क्या द्रव्यका अभाव है जिससे कि द्रव्यकी बात कही जानी मिथ्या बन जाय, अथवा गुणका अभाव है ? जिससे कि गुणके सद्भावका वचन मिथ्या बनाया जाय ? या दोनोका अभाव है जिससे कि गुण पर्ययवत् द्रव्य, इस सिद्धान्तको मिथ्या कहा जाय ? किसका अभाव है ? अथवा क्या उन दोनोके मेलका अभाव है, अर्थात् गुण पर्याय दोनो एक साथ एक वस्तुमे न रह सकें क्या ऐसी बात है? कौनसा कारण है जिससे कि यह कहा जा सके कि गुण पर्ययवत् द्रव्य इस प्रकार महर्षिजनोका जो उपदेश है, व्यवहारनयका जो कथन है वह मिथ्या हो जाय। और जब ये सब अभाव नहीं मालूम होते, गुण भी है, पर्याय भी विदित होती है और सदा गुण पर्यायात्मक है तब इस व्यवहारनयके उपदेशको मिथ्या अथवा अभूतार्थ क्यो कहा जा रहा है ? अब इस शङ्काके उत्तरमे कहते हैं।

सत्य न गुणाभावो द्रव्याभावो न नोभयाभावः।
न हि तद्योगाभावो व्यवहारः स्यात्तथाप्यभूतार्थः ॥६३३॥

वस्तुस्वरूपका प्रतिपादन किया जानेपर भी व्यवहारनयकी अभूतार्थताका कथन—शङ्काकारने ऐसा पूछकर कि क्या गुणका अभाव है या द्रव्यका अभाव है या दोनोके मेलका अभाव है ? यह सब पूछकर उसका इस प्रकारसे उत्तर न मिलेगा। ऐसी समझ बनाकर यह पोषण किया है कि व्यवहारनय यथार्थ होता है, वह मिथ्या नही है। इस शङ्काका समाधान इस गाथामे दिया है। शङ्काकारका यह कहना यद्यपि ठीक है, गुणका अभाव नही है, द्रव्यका भी अभाव नही है, दोनोका भी अभाव नही है और दोनोंके मेलका भी अभाव नहीं है, इतनेपर भी व्यवहारनय मिथ्या ही होता है। मिथ्या होनेका कारण क्या, है इस बातको अगली गाथामे बतायेंगे पर सक्षेपमे यह समझ लेना चाहिए कि जिस प्रणालीसे किसी भी प्रकारका भेद सिद्ध होता हो तो वह प्रणाली अभूतार्थ कही जायगी। क्योंकि वस्तुमे कहीं भी भेद पडा हुआ नही है। यह व्यवहारनयकी अभूतार्थताकी कुञ्जी है। जहाँ भी अभूतार्थता सिद्ध होती हो वहाँ यह बात मिलेगी कि अभेद वस्तुमे किसी भी प्रकारका भेद करने का प्रयत्न किया गया है। यावत भेद है वह सब व्यवहार है, इसी कुञ्जीके अनुसार शकाकारकी शङ्काके समाधानका स्पष्टीकरण अब अगली गाथाओंमें दिया जा रहा है

इदमत्र निदानं किल गुणवद्द्रव्यं यदुक्तमिह सूत्रे ।
अस्ति गुणोस्ति द्रव्यं तद्योगात्तदिह लब्धमित्यर्थात् । ६३४ ।

तदसन्न गुणोस्ति यतो न द्रव्य नोभयं न तद्योगः ।
केवलमद्वैतं सद्भवतु गुणो वा तदेव तद्द्रव्यम् ॥ ६३५ ॥

लक्षणप्रतिपादक व्यवहारनयकी भी अभूतार्थताके कारणका स्पष्टीकरण

गुणपर्ययवत् द्रव्य इस प्रकारका आश्रय लेकर जो सतजनोका उपदेश है वह यद्यपि कार्यकारी है, परमार्थ वस्तुकी ओर लक्ष्य करानेका इसमे प्रयास भरा है लेकिन जिन शब्दोमे यह उपदेश है वे शब्द यह बतलाते हैं कि यह व्यवहारनय मिथ्या है, क्योंकि इसमे यही तो कहा गया है कि द्रव्य गुणपर्याय वाला है। जहाँ यह बात आई कि द्रव्य गुण वाला है तो उससे ऐसा ही अर्थ ध्वनित होता है कि गुण कोई चीज है, द्रव्य कोई चीज है और फिर गुणके मेलसे यह द्रव्य गुण निराला कहलाया लेकिन बात ऐसी है कहाँ ? पदार्थ तो अपने आपमे अद्वैत सत् है। तब पर्यायकी बात कहकर उपदेश किया है कि द्रव्य पर्याय निराला है। वहाँ भी यही अर्थ ध्वनित होता है कि पर्याय कुछ चीज है और द्रव्य कुछ चीज है। फिर उन पर्यायोका मेल करानेपर यह द्रव्य पर्याय वाला कहलाता है। लेकिन पर्याय क्या कोई भिन्न वस्तु है और द्रव्य कोई उससे जुदी चीज है ? इस लक्षणमे जो कुछ जिन शब्दोसे कहा गया है उन्ही शब्दोके अनुसार समझ बनानेपर विशेषवादका प्रसङ्ग आता है। जब कहा कि द्रव्य गुण पर्याय वाला है तो वहा भी यही समझिये कि परमार्थतः न तो कोई गुण वस्तु है और न केवल कोई द्रव्य वस्तु है, न दोनो है, न उन दोनोका योग है। किन्तु केवल वह एक अद्वैत सत् है। अब चाहे कोई गुणको दृष्टि रखकर सत् गुण कहे, चाहे कोई द्रव्यकी दृष्टि रखकर सत् द्रव्य कहे पर वस्तुतः तो वहाँ अनिर्वचनीय अद्वैत सत् है। तो वस्तुमे कोई ऐसा भेद भी पडा हुआ है और ये व्यवहारनयके लक्षण उन भेदोकी बात बताते हैं इस कारणसे यह व्यवहारनय मिथ्या कहलाता है। यही निर्णय इस प्रसङ्गके अन्तमें इस गाथामें दिया है।

तस्मान्न्यायागत इति व्यवहारः स्यान्नयोप्यभूतार्थः ।
केवलमनुभवितारस्तस्य च मिथ्यादृशो हतास्तेपि ॥ ६३६ ॥

व्यवहारनयके अभूतार्थत्वका व व्यवहारनयके अनुभविताओके मिथ्या दृष्टित्वका निर्णय– उक्त गाथामे जो युक्ति दी है उस युक्तिके अनुसार यह बात न्यायसे प्राप्त हो चुकती है कि व्यवहारनय अभूतार्थ है, क्योकि व्यवहारनय भेदका साधन करता है और भेदरूपसे दृष्टि बनानेपर उपयोगकी निर्मलता नही बनती।

अभेद वस्तु आश्रयणीय नही हो पाता । इस कारण भेदकी सिद्धि करने वाला व्यवहारनय अभूतार्थ है । जो लोग केवल इसी व्यवहारनयका आश्रय करते हैं ऐसे ही भेद का अनुभव करते रहते हैं वे तो बरबाद हो जाते हैं, क्योकि शान्तिका मार्ग मिल नहीं पाता और भ्रमका क्लेश सहते रहते है । यों व्यवहारनयका आलम्बन करने वाले पुरुष मिथ्यादृष्टि हैं । व्यवहारका प्रतिषेध करके निश्चयनयने जिस तत्त्वको दिखाया है उस तत्त्वका आश्रय करनेसे सम्यक्त्व होता है और उत्तरोत्तर प्रकाश होकर उसकी स्थिरतामें रत्नत्रयकी पूर्णता बनती है । यो निश्चयनय भूतार्थ है और व्यवहारनय अभूतार्थ है । यह प्रकरण यहाँ निर्दोष सिद्ध होता है ।

ननु चैवं चेन्नियमादादरणीयो नयो हि परमार्थः ।
किमकिञ्चित्कारित्वाद् व्यवहारेण तथाविधेन यतः ॥ ६३७ ॥

अभूतार्थ होनेपर भी व्यवहारनयकी वाच्यताके कारणकी जिज्ञासा— अब यहाँ शङ्काकार यह कह रहा है कि जब व्यवहारनयका अनुभव करनेसे बरबादी है और व्यवहारनयका आलम्बन करने वाले मिथ्यादृष्टि है । यो जब व्यवहारनय मिथ्या ही है तब तो केवल निश्चयनयका ही आदर करना चाहिए और जब व्यवहार नय कुछ भी करनेमे समर्थ न रहा, वह मिथ्या ही है तो उसे फिर सर्वथा कहना ही न चाहिए । व्यवहारनयका फिर प्रयोग किया ही क्यो जा रहा है ? उक्त प्रसङ्गोसे यह विदित हो रहा है कि व्यवहारनय मिथ्या है, आदरके योग्य नहीं । तो इतने तिरस्कृत किये गए व्यवहारनयका फिर प्रयोग क्यो किया जा रहा है, इसका समाधान करते हैं ।

नैवं यतो बलादिह विप्रतिपत्तौ च संशयापत्तौ ।
वस्तुविचारे यदि वा प्रमाणमुभयावलम्बितज्ज्ञानम् । ६३८ ॥

व्यवहारनयकी वाच्यतामे वस्तु विचारार्थताकी कारणरूपता— शङ्काकारकी उक्त शङ्का यो सङ्गत नहीं है कि जब किसी विषयमें विवाद हो जाय अथवा किसी विषयमे सदेह हो जाय तब व्यवहारनयका आलम्बन बलात लेना ही पड़ता है । उस समय व्यवहारनयका आलम्बन लिए बिना समस्या नही सुलझती । किसी तत्त्वके स्वरूपमे विवाद हो गया, अब वह विवाद तो किसी प्रतिपादनसे ही तो समझा जायगा । युक्ति विशेषण भेद सभी दृष्टियोंसे उसे समझाना पड़ेगा तब विवाद शान्त होगा । और जब किसी शब्दका बोलना भी व्यवहार हो गया तो निश्चयनय प्रतिबोधका कारण तो न बना कि दूसरेको यह समझा देवें तो विवाद जैसी परिस्थिति होनेपर व्यवहारनयका ही आलम्बन लेना पड़ता है । इसी प्रकार किसी विषय में संदेह हो गया तो वह भी विवादकी ही चीज है । तो संशय होनेपर जो समझने

समझानेकी दशा बनेगी तो व्यवहारनयका आलम्बन करके ही बनेगी। तो वहाँ व्यवहारनय आवश्यक हो गया। इसी प्रकार जब वस्तुका विचार करनेको ही बैठेंगे तो उस विचार करनेके प्रसङ्गमे भी व्यवहारनयका आलम्बन अवश्य लेना होगा और फिर यह भी समझ लीजिये कि वही ज्ञान प्रमाण कहला सकता है जो ज्ञान निश्चयनय और व्यवहारनय दोनोका आलम्बन लेता हो। सम्यग्ज्ञान तब ही अपनी सब कलाओ से युक्त हो पाता है जबकि निश्चयनय और व्यवहारनय दोनोका आलम्बन करके बोध किया गया हो। केवल व्यवहारनयका आलम्बन करना जैसे प्राणियोको कुमार्गमे ले जाने वाला बन जाता है, यो ही व्यवहारनयके बिना निश्चयनयका ही आलम्बन करनेमे प्रमाणता नही आ पाती है। व्यवहारनयका आलम्बन लिए बिना पदार्थका विचार ही नही हो सकता है। अत. व्यवहारनयका निरूपण आवश्यक हो जाता है। यहाँ कोई यह भी शका कर सकता है कि जब व्यवहारनय मिथ्या है तो व्यवहारनय के द्वारा जो वस्तुका विचार बनता है, जो भी कथन होता है वह भी मिथ्या ही होगा तब भी व्यवहारकी क्या आवश्यकता रही ? लेकिन यह शका किसी अंशमे ठीक हो सकती है, परन्तु तथ्य यह है कि बिना व्यवहारके वस्तुका विचार हो ही नही सकता, कुछ भी निरूपण न करें तो यह कैसे जाना जायगा कि पदार्थ अनन्त गुणात्मक है। पदार्थ परिणामी है। इस सबका परिज्ञान व्यवहारनयके द्वारा पदार्थको जानकर ही तो यथार्थताका बोध होगा। या सरल शब्दोमें यो कह लीजिये कि व्यवहार पूर्वक ही आत्मा निश्चयनयपर आरूढ होता है। यद्यपि व्यवहारनयकी जो विवेचना है उसे यथार्थ न कहेंगे लेकिन विवेचनके द्वारा यथार्थताका बोध होता है। जैसे कि कोई अगुलीके इशारेसे चन्द्रमाको दिखाये तो अंगुलीका इशारा यह खुद चन्द्रमा न कहलायेगा, लेकिन उस सहारेसे चन्द्रमाका बोध होता है। यो ही व्यवहारनयके आलम्बनसे यथार्थ स्वरूपका परिचय कराया जाता है। तब व्यवहारनयने जो कुछ बताया है वह वस्तुकी यथार्थता नही है किन्तु विवेचनाके बिना यथार्थताका बोध भी नही होसकता इसी कारणसे व्यवहारनय आदरणीय है और व्यवहारनयका प्रयोग करना श्रेयस्कर भी है। निषेध तो इस बातका किया जा रहा है कि व्यवहारनय जो कुछ कहता है उसे एक लक्ष्यका सकेत समझना चाहिए। ठीक उसी रूपसे, भेदरूपसे वस्तु यही पूर्ण है इस तरह न मान लेना चाहिए यो व्यवहार निश्चयका साधक होनेसे आदरणीय है।

तस्मादाश्रयणीयः केषाञ्चित् स नयः प्रसङ्गत्वात् ।
अपि सविकल्पानामिवन श्रेयो निर्विकल्पबोधवताम् ॥६३९॥

प्राक् पदवीमे व्यवहारनयकी आश्रयणीयताका प्रतिपादन—व्यवहारनय आदर करने योग्य है अथवा नही है इस सम्बन्धमे ये दोनो ही निर्णय हैं। किन्ही २ जीवोको तो व्यवहारनय आश्रय करने योग्य है। जिस प्रसङ्गमे वे पडे वे उस प्रसङ्गके

माफिक उनको व्यवहारनय आवश्यक है। अर्थात् जो सविकल्प ज्ञान वाला है ऐसे प्राणियोंके लिए व्यवहारनय आश्रय करने योग्य है, किन्तु निर्विकल्प बन जानेके लिए व्यवहारनय हितकारी नही है। सविकल्प ज्ञान पूर्वक जो पुरुष निर्विकल्प ज्ञानमें पंहुच गए हैं अब उन पुरुषोको व्यवहारनयकी शरण नही लेनी होती। जो निर्विकल्प समाधिभावमें स्थित है, आत्मानुभवका अलौकिक आनन्दरस ले रहे हैं उनको सकेला होना बुरा है, उनमें तरङ्ग आना बुरा है, यो ही समझ लीजिए कि व्यवहारनयका वे आश्रय करने लगे तो आत्माश्रय जैसे वैभवसे हटकर एक दरिद्रतामे लग गए हैं। तो व्यवहारनय किन्ही किन्ही पुरुषोको आश्रय करने योग्य है किन्तु निर्विकल्प ज्ञानमे ही जो आ गए पुरुषोको व्यवहारनय करनेके योग्य नहीं है; जैसे एक स्थूल उदाहरण समझिये कोई पुरुष मदिरकी दूसरी मजिल पर जा रहा है तो उस पुरुषको ये सीढियाँ आश्रय करना योग्य है या नही ? ऐसा एक साधारण प्रश्न सामने रखा जाय तो वहाँ एकान्तत उत्तर कुछ न बन सकेगा। यदि यह कहा जाय कि वे सीढियाँ आलम्बन करनेके योग्य हैं तो इसका यह अर्थ लगाया जा सकेगा कि किसी भी सीढींको पकड कर रह जायें क्योकि वे तो आश्रय करनेके योग्य हैं ? यदि यह उपदेश किया जाय कि सीढियाँ आश्रय करनेके योग्य नही है तो कोई नीचे खडा हुआ कोई आलसी पुरुष बडे मजेमें इस आज्ञाका पालन कर सकता है। सीढियाँ तो आश्रय करनेके योग्य नहीं हैं ऐसा बताया है बडे पुरुषोने तो हम सीढियोको छुवें ही क्यो ? उनपर चढे ही क्यो ? ऐसा आग्रह करके वह नीचे बैठा ही रहे तो भी वह मन्दिरमे न जा सकेगा। सीढियोका आलम्बन करनेका एकान्त करे तो भी वह मन्दिरमें न पहुच पायगा। सीढियाँ आलम्बन करने योग्य ही नही हैं ऐसा आग्रह करके दूर रहे तो भी वह मन्दिर न पहुचेगा। तो करना क्या चाहिए कि जब बिल्कुल नीचे हैं तो उन सीढियो का आश्रय करना चाहिए उनपर चढना चाहिए और जिस सीढी पर चढ गए हैं उसको छोडकर अगली सीढीपर चढना चाहिए। इस तरह आलम्बन की हुई सीढीका परित्याग करते जाना चाहिए। तब मन्दिरमे पहुचकर प्रभुके दर्शन हो सकते हैं। ऐसे ही यहाँ जाने जिनका अभी वस्तु स्वरूपमें पूरा प्रवेश नही है अथवा उस स्वरूप की उपासनाका अभ्यास नही बन पाया है ऐसे पुरुषोको व्यवहारका आश्रय करना चाहिए, कब तब, जब तक कि वीतरागता और विज्ञान प्रकट न हो जाय। तो निर्णय यह रहा कि व्यवहारनय प्राथमिक पुरुषोको आलम्बन करने योग्य है, किन्तु निर्विकल्प समाधिमे ठहरे हुए पुरुषोको व्यवहारनयका आलम्बन करना योग्य नहीं है। इस तरह परमार्थ तो निश्चयनय है और उसकी प्राप्तिके लिए व्यवहारनयका प्रयास है।

ननु च समोहितसिद्धिः किल चैवस्मान्नयात्कथं न स्यात्।
विप्रतिपत्तिनिरासोवस्तु विचारश्च निश्चयादिति चेत् ॥६४०॥

निश्चयनयसे ही विवादपरिहार, वस्तुविचार, समीहित सिद्धि न हो जानेके कारणकी जिज्ञासा—अब शङ्काकार पुनः कहता है कि इष्ट सिद्धिके लिए, विवादका परिहार करनेके लिए, वस्तुका विचार बनानेके लिए निश्चयनयका आश्रय किया जा रहा है। तो ये सब बातें निश्चयनयसे ही क्यों नहीं मान ली जाती? निश्चयनयके आलम्बनसे विवाद मिट जायगा। संशय दूर हो जायगा, वस्तुका विचार भी बन जायगा। तो यो निश्चयसे सब बातें मान ली जानेपर फिर व्यवहारनयकी आवश्यकता न रहेगी। विवाद परिहार, संशय विनाश वस्तु विचार ये सभी निश्चयनयसे ही हो जायेंगे, इस कारण केवल निश्चनय ही मानना चाहिए। व्यवहारनयकी तो बात कहना मिथ्यानय है और अकार्यकारी है। इस प्रकार शङ्काकारने पुन अपनी शङ्का दोहराई कि सब कुछ हित जब निश्चयनयसे मिलता है तो उपदेश निश्चयनयका ही करना चाहिए, व्यवहारनयका कथन करना तो असङ्गत मालूम होता है।

नैवं यतोस्ति भेदोऽनिर्वचनीयो नयः स परमार्थः।
तस्मातीर्थस्थितये श्रेयान् कश्चित् स वावदूकोपि ॥६४१॥

निश्चयनयकी अनिर्वचनीयताके कारण तीर्थ स्थितिके लिये व्यवहारनयकी हितकारिता—अब उक्त शङ्काका समाधान करते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि ऊपर जो शङ्का उठाई गई है वह ठीक नहीं है, क्योंकि निश्चयनय और व्यवहारनय इन दोनोमे भेद है। निश्चयनय तो वचनके अगोचर है, निश्चयनयके द्वारा पदार्थका विवेचन किया ही नहीं जा सकता इसी कारण धर्म या दर्शनकी स्थिति लिए हुए वस्तु स्वभावको जाननेके लिए बोलने वाला जो व्यवहारनय है सो यह व्यवहारनय हितकारी है। व्यवहारनयको यहाँ वावदूक बतलाया है अर्थात् बोलने वाला, तो बोलने वाला होकर भी व्यवहारनय हितकारी है। क्योंकि इसके ही प्रतापसे धर्म और दर्शनकी स्थिति होती है। निश्चयनय तो एक वस्तुके सहज स्वभावका दर्शन कराता है। यद्यपि कोई यही करता रहे और कुछ भी न करे, इस स्थितिमे उसका कल्याण है, लेकिन जब पहिले परिज्ञान ही नहीं है तो निश्चयनयका प्रतिबोध कैसे सहज बने? उसके लिए व्यवहारनय सहयोगी है। यह व्यवहारनय निश्चयनयके तथ्य पर प्रकाश देता है।

ननु निश्चयस्य वाच्यं किमिति यदालम्ब्य वर्त्तते ज्ञानम्।
सर्वविशेषाभावेऽत्यन्ताभावस्य वै प्रतीतत्वात् ॥६४२॥

सर्व विशेषोंका अनालम्बन होनेसे निश्चयनयके अविषयत्व व अभाव की आशंका—शङ्काकार कहता है कि निश्चयनयका वाच्य है क्या? स्पष्ट बताओ,

जिसका आलम्बन करके ज्ञान किया जा रहा है ? निश्चयनय भी तो एक ज्ञान है और ज्ञान किसीको विषय करता हुआ रहता है तो निश्चयनयमें वह विषय क्या है जिसका आलम्बन करके बने हुए ज्ञानको निश्चयनय कहते हैं । अभी जितना कथन आया है उससे यह विदित हो रहा है कि निश्चयनयका विषय कुछ नहीं है । किन्तु व्यवहारनय जो कुछ कहे उसका निषेध करना ही काम है । तो व्यवहारनयके कथन का निषेध करता जाय इतने मात्रसे निश्चयनयके विषय की पुष्टि तो नहीं होती है । आखिर निश्चयनयने समझा क्या है ? तो निश्चयनयका वह वाच्य बतलाईये ? अब तक तो ऐसा मालूम हुआ कि निश्चयनयका विषय कुछ है ही नहीं, अत्यन्ताभाव है निश्चयनयके विषयका और जब विषयका अत्यन्ताभाव है तो निश्चयनयका भी अत्यन्ताभाव हो जायगा । केवल व्यवहारका निषेध करता है निश्चयनय इतना कहने मात्रसे काम न बनेगा । जिसे हितकारी माना जा रहा है ऐसे निश्चयनयका विषय तो कुछ सामने आना चाहिए । अब इस शङ्काका समाधान करते हैं ।

इदमत्र समाधानं व्यवहारस्य च नयस्य यद्वाच्यम् ।
सर्वविकल्पाभावे तदेव निश्चयनयस्य यद्वाच्यम् ।।६४३।।

व्यवहारनयके वाच्यमेंसे सर्व विकल्पोको दूर कर देनेपर व्यवहारनय वाच्यकी ही निश्चयनयवाच्यता—उक्त शङ्काका समाधान यह है कि देखिये ! व्यवहारनयका जो कुछ भी वाच्य है, व्यवहारनयने जो कुछ भी प्रतिपादन किया है सो, वहाँ सर्व विकल्पोको दूर हटा लीजिए और सर्व विकल्प दूर होनेपर फिर जो वाच्य रहता है वही निश्चयनयका वाच्य है । निश्चयनयका यथार्थतया वाच्य कौन है उसको केवल आत्माकी कुछ बात ही कहकर कैसे बताया जाय ? बाह्य पदार्थका अथवा भेद का आलम्बन करना ही पडेगा । सो वहाँ वह व्यवहारनय बन जायगा । ऐसे ऐसे व्यवहारनयके विकल्प जब नहीं रहे तो जो कुछ उस प्रतिपादनसे बचा वह निश्चयनय का विषय है । यो निश्चयनयका विषय अवाच्य हुआ और व्यवहारनयका विषय वाच्य हुआ । इसी बातको अब एक दृष्टान्त द्वारा पुष्ट कर रहे हैं ।

अस्त्यत्र च संदृष्टिस्तृणाग्निरिति वा यदोष्ण एवाग्निः ।
सर्वविकल्पाभावे तत्संस्पर्शादिनाप्यशीतत्वम् ।।६४४।।

दृष्टान्त द्वारा निश्चयनय वाच्यत्वका पुष्टीकरण—निश्चयनयका वाच्य क्या है इसका परिज्ञान करानेके लिए यह दृष्टान्त दिया जा रहा है जैसे कोई कहे कि तृण अग्नि है, ऐसा कहनेपर भी वह अग्नि है, अग्नि कहते उसे हैं जिसमें उष्ण स्पर्श अधिक हो और उष्णस्पर्शकी तीव्रताके कारण उसके निकट भिडा हुआ पदार्थ दग्ध

हो जाय। तृणकी अग्नि है तब भी अग्नि ही है, कंडेकी अग्नि है तब भी अग्नि ही है कोयलेकी अग्नि है तो वह भी उष्ण अग्नि है। अब जरा उष्ण अग्निमेंसे तृणका, कंडेका, कोयलेका विकल्प दूर कर दीजिए। तृण अग्नि है यहाँ तृणका विकल्प दूर कर दिया जाय, केवल अग्निको ही दृष्टिमे लिया जाय तो वह उष्ण ही प्रतीत होगी विशेषण हटा दिया फिर भी वह आग ही है जो जला देती है। अब यहाँ विचार करिये—तृणकी आग है, यह कथन क्या यथार्थ है ? नहीं है यथार्थ क्योंकि जिस समय तृण आगमय बन गई उस समय तो वह तृण ही न रहा, किन्तु आग ही है और जिस समय आगरूप नहीं परिणमा उस समय वह तृण है, आग नहीं है इसी कारण तृण आदिक विकल्पोंको दूर कर देना ही ठीक है, फिर भी आग है ऐसा प्रतिबोध करनेके लिए तृण आदिकका व्यवहार होना आवश्यक है। यही दृष्टान्त निश्चयनय घटित होता है। जो व्यवहारनयका विषय है वह विकल्पात्मक है। अब विकल्पोंको दूर करें और जिसका लक्ष्य किया वही दृष्टिमे रहने दिया जाय तो वह निश्चयनयका विषय बन जाता है। जैसे गुण पर्याय वाला द्रव्य है तो कोई पर्याय आदिक भेद निश्चयनयकी दृष्टिमे मिथ्या है, क्योंकि निश्चयनयकी दृष्टिमे गुणात्मक अखण्ड पिण्ड ही है। उसे तो वचनोंमे नहीं कह सकते। तो इसको समझानेके लिए जो भेद व्यवहारसे प्रतिपादन किया है वह व्यवहारनयका विषय है और उस विकल्पका निषेध करके निश्चयनयका विषय प्रकट होता है। सो व्यवहारनयका निषेध करता है निश्चयनय। इन शब्दोंसे केवल निषेध ही न लेना, केवल अभावात्मक अर्थ न लेना, किन्तु शुद्ध द्रव्य निश्चयनयका विषय है जिसको लक्ष्य करके व्यवहारनयने समझानेका प्रयास किया है।

ननु चैवं परसमयः कथं स निश्चयनयावलंबी स्यात्।
अविशेषादपि स यथा व्यवहारनयावलंबी यः ॥६४५॥

निश्चयनयावलम्बीको भी मिथ्यादृष्टि कहनेके कारणकी जिज्ञासा—यहाँ शङ्काकार कहता है कि व्यवहारनयका आलम्बन करने वालेको मिथ्या दृष्टि बताया है सो ठीक है, वहा तो विषय अनेक हैं परन्तु निश्चयनयका आलम्बन करने वाला भी अर्थात् केवल निश्चयनयका आग्रह करने वाला भी मिथ्यादृष्टि बताया गया सो वह किस प्रकार ? स्थूल रूपसे सभी समझ शक्तिके व्यवहारनय असद्भूतका वर्णन करते हैं तथा सद्भूतमें भी भेद प्रकट करते हैं। सो वस्तु भेदरूप नहीं और असद्भूत ही नहीं तब वस्तुको उस प्रकार कहना व्यवहारनय है सो वह मिथ्या है लेकिन व्यवहारनय तो एक अखण्ड वस्तुपर लक्ष्य कराता है और वचनों द्वारा भी केवल निषेधरूपमें प्रवृत्त होता है। तो ऐसा निश्चयनयका अवलम्बन करने वाले जीव को मिथ्यादृष्टि कहा गया है। इस शङ्काके समाधानमें कहते हैं।

सत्यं किन्तु विशेषो भवति स सूक्ष्मो गुरुपदेश्यत्वात् ।
अपि निश्चयनयपक्षादपरः स्वात्मानुभूतिमहिमा स्यात् ।६४६।

निश्चयनयपक्षकी अनादेयताका कारण पक्षातिक्रान्त स्वानुभूतिकी महिमा—शङ्काकारका कहना उसकी दृष्टिमें सत्य है क्योंकि स्थूलरूपसे परखमे भी यही बात आती है कि व्यवहारनय अनेकको विषय करता है। असदभूतको विषय करता है, अभेद वस्तुमें भेदकी प्रक्रिया बनाता है। अत व्यवहारनयका आलम्बन करनेका अर्थ यह है कि वस्तु जिस प्रकार है उससे विपरीत तत्त्वका आलम्बन किया। अतएव मिथ्या है और उसकी ओर दृष्टि बनाये सो मिथ्यादृष्टि है और निश्चयनय एक अखण्ड वस्तुपर लक्ष्य कराता है अतएव उसका विषय एक है और उस एकका आलम्बन जो करता है वह सम्यक्दृष्टि होता है, ऐसा कथन भी आया है। इन बातो से यद्यपि यह बात शङ्काकारकी ठीक जच रही, फिर भी सूक्ष्म दृष्टिसे विचारा जाय तो निश्चयनयसे भी विशेष कोई बात है और वह सूक्ष्म है और वह गुरुजनोके ही उपदेशके लायक है, उसे बडे बडे महर्षिजन उपदेश कर सकते हैं और फिर भी सुनने वाले वचनोका लक्ष्य रखकर उसका अर्थ स्पष्टरूपसे नहीं समझ सकते। सिवाय स्वात्मानुभूतिके और कोई उपाय नही है कि अखण्ड निज तत्त्वका स्पष्ट अनुभवात्मक परिचय हो जाय और उसके स्वरूपको कोई महान् गुरु ही बतला सकता है। यो साधारण वचनो द्वारा उसका कथन भी नहीं हो पाता है। तो निश्चयनयसे भी विशेष परिणति है स्वात्मानुभूतिकी। और स्वात्मानुभूतिमे जो अनुभव होता है ऐसे अनुभव वाले पुरुषको सम्यक्दृष्टि कहते हैं। निश्चयनय भी एक पक्ष है और वह है यद्यपि अभिन्न अखण्ड वस्तुका निकटवर्ती पक्ष, किन्तु जब तक उसका आग्रह है वह भी एक प्रकारसे वस्तुसे अलग पडा हुआ है। दोनो पक्षोसे रहित होकर स्वात्मानुभूतिकी महिमासे यह पुरुष उस तत्त्वको जान सकता है जिसकी प्राप्तिसे सम्यक्दृष्टि कहलाता है।

उभय णयं विभणियं जाणइ णवर तु समय पडिबद्धो।
णदु णयपक्खं गिण्हदि किंचिवि णयपक्खपरिहीणो॥१॥

इत्युक्तसूत्रादपि सविकल्पत्वात्तथानुभूतेश्च ।
सर्वोपि नयो यावान् परसमयः सच नयावलम्बी ॥६४७॥

नयपक्षावलम्बीकी परसमयताके कथनका उद्धरण—व्यवहारनयका अवलम्बन करने वालेको मिथ्यादृष्टि कहा गया है। इसमें तो शङ्काकारको विवाद

नही। निश्चयनयावलम्बीको मिथ्यादृष्टि कहा है, इस विषयमें शङ्काकारको विवाद हुआ है। उस विवादका समाधान कुछ ऊपर कहा गया है। उसकी पुष्टिमे समयसार ग्रन्थकी एक गाथा दी गई है जिसका अर्थ यह है कि जो दो प्रकारके नय कहे गए है उन नयोको सम्यग्दृष्टि जानता तो है परन्तु वह किसी भी नय पक्षको ग्रहण नही करता, वह नयपक्षसे रहित है, वह अपने सम मे ही प्रतिबद्ध है। इस गाथारूप सूत्रसे भी यह बात सिद्ध हो जाती है कि सम्यग्दृष्टि निश्चयनयका भी आलम्बन नही करता। हाँ यह बात अवश्य है कि निश्चयनयके विषयपर दृष्टि रखने वाले पुरुषको सम्यक्त्व उत्पन्न होता है। परन्तु निश्चयनयका पक्षरूप विकल्प तो सम्यग्दर्शन नही है इस कारण निश्चयनयके विकल्पका ही आग्रह करने वाला पुरुष सम्यग्दृष्टि नही किन्तु मिथ्यादृष्टि है। अब दूसरी पद्धतिसे इसका समाधान देखिये ! व्यवहारनयको सविकल्प ज्ञान कहा है, इसी तरह निश्चयनयको भी सविकल्प ज्ञान बताया गया है। इस विषयमे पहिले स्पष्टरूपसे बता ही दिया गया था कि जितने भी ज्ञान विकल्प है वे सब नय है और वे अपरमार्थ हैं। तो सविकल्प ज्ञानरूप होनेसे जैसे व्यवहारनय मिथ्या है उसी प्रकार निश्चयनय भी मिथ्या सिद्ध होता है। जितने भी नय हैं सभी परसमय कहलाते हैं। स्वसमयसे बाह्य तो मिथ्या कहलाता है। तब उन नयोका अवलम्बन करने वाला भी मिथ्यादृष्टि ही सिद्ध हुआ। कब नय सम्यक है ? कब नय मिथ्या है ? सब समय नय मिथ्या है। कुछ नय मिथ्या है कुछ नय सम्यक हैं। सभी प्रकारके वर्णन हैं और उन सबकी दृष्टियाँ जब परखमे आ जाती हैं तो निर्विवाद यह सब कथन प्रमाणसिद्ध प्रतीत हो जाता है। नयोका समूह प्रमाण है निरपेक्षनय मिथ्या है, सापेक्ष नय सम्यक है। नयके स्वरूपमात्रसे सभी नय मिथ्या हैं आदि अनेक कथन अनेक स्थलोमे आते हैं। उन सब समस्याओका पार नही पा सकता है, जो इस गहन नयचक्रके समूहका प्रकाश लिए हुए घूम रहा हो। तो यहाँ तीन बातें समझनी चाहिए व्यवहारनय, निश्चयनय और स्वात्मानुभूति। इसमे साधक साध्यपनेका सम्बन्ध भी है। व्यवहारनय साधक है तो निश्चयनय साध्य है। निश्चयनय साधक है तो स्वात्मानुभूति साध्य है। स्वात्मानुभूतिमे स्व समयता है और नयोमे पर समयता है और विशुद्ध दृष्टि रखते हुए, प्रयोजन ठीक समझते हुए निरखनेपर तो नय भी सम्यक है। इस तरह शिक्षाके लिए यह बात प्रकट होती है कि मनुष्यको कल्याण मार्गमें बढनेके लिए व्यवहारनयका सहारा लेकर वस्तु स्वरूपका अध्ययन करना चाहिए और फिर व्यवहारनयका प्रयोजन जानकर दृष्टि निश्चयनके विषयकी ओर उन्मुख करना चाहिए, फिर निश्चयनयके आलम्बनसे अखण्ड वस्तुको निरखना चाहिए और फिर इस विकल्प से भी हटाकर स्वात्मानुभूतिमे आकर वह विशुद्ध निर्विकल्प अनुभव रहे उसका बस यही कल्याणका सीधा मार्ग है।

स यथा सति सविकल्पे भवति स निश्चयनयो निषेधात्मा।

न विकल्पो न निषेधो भवति चिदात्मानुभूतिमात्रं च ॥६४८॥

अनुभूतिकी विकल्पातिक्रान्तताका निर्देशन इस गाथामे स्वात्मानुभूति का स्वरूप कहा गया पर स्वात्मानुभूति वहाँ है जहाँ कोई विकल्प भी नही है। न तो विधिरूप विकल्प है और न निषेधरूप विकल्प है। सविकल्प ज्ञान होनेपर निश्चयनय मे विकल्पका निषेध करते हैं परन्तु निश्चयनयमे भी निषेधरूपका पक्ष रह जाता है। जब यह पक्ष भी शान्त हो जाता है तो वहाँ जो अनुभव है वह आत्माके अनुभव मात्र हैं और उसे ही स्वानुभव कहते हैं। अथवा स्वका अर्थ यहाँ ज्ञान है, क्योंकि आत्मा ज्ञानमात्र है, अर्थात् केवल ज्ञानस्वरूपसे ही निरखा जाय तो आत्माका ठीक परिचय हो जाता। ऐसे ज्ञानमात्र निज आत्मतत्त्वका अनुभव करना सो ज्ञानानुभूति अथवा स्वात्मानुभूति है। ज्ञानमे जब विशुद्ध ज्ञानका स्वरूप समाया हो, ज्ञान जहाँ विशुद्ध ज्ञानका स्वरूप मात्र जान रहा हो, उसके साथ इष्ट अनिष्ट विकल्प न हो, ज्ञाता ज्ञान ज्ञेयका भेद न हो, मैं की पद्धतिसे अपने आपने भी भेद न किया जा रहा हो, ऐसे अभेद ज्ञानानुभवका आनन्द चखा जानेकी जो स्थिति हो उसे स्वात्मानुभूति की स्थिति कहते हैं। स्वात्मानुभव ही एक ऐसा विशुद्ध पुरुषार्थ है कि जिसके प्रतापसे यह जीव निर्वाण पदको प्राप्त कर लेता है ऐसा स्वात्मानुभव जहाँ हो वहाँ सम्यग दर्शन कहलाता है। जब तक व्यवहारनय अथवा निश्चयनयका विकल्प है तब तक वहाँ सम्यग्दर्शन नही कहा जाता। यद्यपि सम्यग्दृष्टि पुरुष भी व्यवहारनय और निश्चयनयकी पद्धतिसे जानते हैं लेकिन मिथ्यादृष्टि जीव व्यवहारनय और निश्चय-नयकी पद्धतिसे जानता है। तब वहाँ नियमपूर्वक यह नहीं कहा जा सकता कि व्यव-हारनयके विकल्प और निश्चयनयके विकल्प करने वाले जीव भी सम्यग्दृष्टि होते हैं और जब केवल मात्र विकल्पके स्वरूपके स्वरूप तक ही कुछ चर्चा चलती है तो वहाँ तो कहना ही होगा कि यह सम्यग्दर्शन नही है।

दृष्टान्तोपि च महिषध्यानाविष्टो यथा हि कोपि नरः।
महिषोयमहं तस्योपासक इति नयाद्लम्बी स्यात् ॥६४९॥

चिरमचिरं वा यावत् स एव दैवात् स्वयं हि महिषात्मा।
महिषस्यैकस्य यथा भवनान् महिषानुभूतिमात्र स्यात् ॥६५०॥

अनुभूतिकी विकल्पातिक्रान्तताका दृष्टान्तपूर्वक समर्थन—उक्त गाथामे स्वानुभूतिका स्वरूप बताया है। स्वानुभूतिकी पूर्व स्थिति क्या होती है और स्वानु-भूतिके समय क्या स्थिति होती है उस स्थितिका चित्रण करनेके लिए एक पद्धति रूप का दिग्दर्शन उस दृष्टान्त द्वारा इस गाथामे कराया गया है। जैसे कोई पुरुष भैंसाके

ध्यानमें प्रारूढ़ है, कुछ लोगोंके धर्मशास्त्रोंमें भैंसाका ध्यान करना, गधेका ध्यान करना आदिक बताया गया है उसके अनुसार कोई पुरुष भैंसाका ध्यान करने बैठ गया तो ध्यान करते हुएमें यह समझ रहा है कि यह भैंसा है और मैं इसकी सेवा करने वाला हूं मैं ध्यान करने वाला हूं। पहिले उसको द्वैतका विकल्प होता है, इस प्रकारके विकल्पको लिए हुए जब तक उसका ज्ञान चल रहा है तब तक यों समझिये कि जैसे वह नयका अवलम्बन करने वाला है। अब बारबार भैंसा जैसा अपने आपको उपासित करनेके लिए ध्यान करने लगा, और इस तरहसे महिषका ध्यान करने लगे कि उस ओर एकाग्रचित हो गया। अब योगवश उसकी बुद्धिमें यह न रहा कि यह भैंसा है और मैं इसकी उपासना कर रहा हूं और उस समय वह स्वयं अपने अनुभवमें उपयोगमें महिषरूप बन जाता है, लेकिन उस समय वह स्वयं अपने अनुभवमें, उपयोगमें महिषरूप बन जाता है लेकिन उस समय केवल एक भैंसेकी ही अनुभूति करता है, उसे यह कहते हैं कि अब इसको महिषकी अनुभूति हुई है। यहाँ दो स्थितियोंपर दृष्टि कराई गई है कि भैंसेका ध्यान करने वाला पुरुष जब तक इस तरहका विकल्प कर रहा है कि यह भैंसा है और मैं उसका उपासक हूं तब तक तो समझिये कि वह विकल्पात्मक नयके आधीन है और ध्यान करते करते जिस समय उस उपासकके दिल से यह विकल्प दूर हो जाता है और केवल अपने आपको महिषरूप अनुभव करने लगता है उस ही समय उसके महिषानुभूति हुई यह समझना चाहिए। अब इस अनुभूतिमें उपास्य उपासकका भेद न रहा। यह भैंसा है, इसकी उपासना करनी चाहिए यह पूजनेके योग्य है। मैं उपासना करने वाला हूं, इस प्रकारका अब भेद न रहा। पहले तो भेद था और ध्येय बनाया था महिषको। तो जैसे पहिले ध्येय बनाया था और आप उसका ध्याता बन रहा था अब अनुभूतिके समय ध्याता ध्येयका विकल्प भेद न रहा किन्तु वह ध्याता स्वयं ही ध्येयरूप बनकर तन्मय हो गया। तो यह यहाँ स्वात्मानुभूतिकी है इसी कारण स्वात्मानुभूतिकी एक बड़ी महिमा गाई गई है। अब उक्त दृष्टान्तके अनुसार प्रकृत दृष्टान्तकी बात कह रहे हैं।

स्वात्मध्यानादिष्टस्तथेह कश्चिन्नरोऽपि किल यावत्।
अयमहमात्मा स्वयमिति स्यामनुभविताहमस्य नयपक्षः ॥६५१॥

चिरमचिरं वा दैवात् स एव यदि निर्विकल्पकः स्यात्।
स्वयमात्मेत्यनुभवतात् स्यादियमात्मानुभूतिरिह तावत् ॥६५२॥

अनुभूतिकी महिमाका दार्ष्टान्तमें विवरण—कोई मनुष्य जब ... है ... ऐसा है जो ध्यान करते हुए यह विकल्प रहता है कि मैं यह आत्मा हूं और मैं इस आत्माका ध्यान करने वाला हूं। जैसे कि महिष

या ध्यान करने वाले पुरुषने ध्येयको अलग रखा तो यहाँ यद्यपि अलग अलग दो पदार्थ हैं ध्येयरूप अहित भिन्न है और ध्याता यह पुरुष भिन्न है, परन्तु इस आत्मामे जिस आत्माका ध्यान करना है वह भी स्वय है और जो ध्यान करने वाला है वह भी स्वयं है लेकिन अभी भेद भावमे पड़ा हुआ है। जो ध्याता बन रहा वह तो एक उपयोग है, ज्ञान है और जिसको ध्येय बनाया जा रहा वह अनन्त शक्त्यात्मक आत्मतत्त्व है। तो ध्याताके ज्ञानके प्रकारके ही कारण अभी यहाँ विकल्प पड़ा हुआ है। यह मैं आत्मा हू और मैं इसका ध्यान कर रहा हूं। तो समझिये ! कि जब तक उसका ऐसा विकल्पात्मक बोध है तब तक उसका नयपक्ष है। है नयपक्ष फिर भी यह पद्धति निरन्तर चलती है—यह मैं ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व हूँ। इस प्रकारका ध्यान बराबर करता जा रहा है। तो इसके चिर अभ्यासमे योगवश जब यही आत्मा निर्विकल्प हो जाता है अर्थात् पहिले जो विकल्प किया जा रहा था कि मैं उपासक हू और यह मैं स्वयं उपास्य हू, ऐसा जो विकल्प था उसको दूरकर जब यह आत्मा स्वय निज आत्मामे तन्मय हो जाता है तो उस समय यह आत्मा स्वात्मानुभव करने लगता है। इस स्थितिमे जब कि ध्याता और ध्येयका विकल्प भेद न हो और जो निर्विकल्प अनुभव है वही स्वात्मानुभूति कहलाती है। यहाँ भी दो स्थितियोका परिज्ञान करना कि स्वात्मानुभव करने वाले इस पुरुषने पहिले तो ध्याता ध्येयका विकल्प रखा था और तब तक यह नयपक्षमें था, जब इसके ध्याता ध्येयका विकल्प भी छूटा और स्वय निर्विकल्प स्वके अनुभव मे आ गया, कोई विकल्प ही न रहा एक ज्ञान मात्र तत्त्वका ही शुद्ध जानन चलता रहा ऐसी स्थितिको स्वात्मानुभूति कहते हैं। यह है निर्विकल्प स्थिति। इस स्थितिमे ध्यान ध्याता ध्येयका विकल्प नहीं रहता। स्वानुभवमें यह तरङ्ग नहीं है। ध्यान क्या है। ध्याता कौन है, ध्येय कौन है, न ऐसा विकल्प है और न ऐसा कोई जल्प है, प्रकृतमे यह बात फलित रूपसे समझना चाहिए कि निश्चयनय मे भी विकल्प है और वह विकल्प भी जब छूट जाता है तो व्यवहार और निश्चय दोनो विकल्पोसे रहित होता हुआ यह जीव स्वानुभूति वाला होता है। तो यह स्वात्मानुभूतिरूप विज्ञान निश्चयनयसे बहुत ऊपर है और बहुत सूक्ष्म है। इसका वर्णन बड़े महत ऋषिजन कर पाते हैं। उस आनन्दका जिन्हे अनुभव नही हुआ वे उसका यथार्थ स्वरूप नहीं कह सकते हैं। तो अब यहाँ यह निश्चय कर लेना चाहिए कि जो यह कथन किया गया है कि मात्र व्यवहारनयका आलम्बन करने वाला जैसे मिथ्यादृष्टि है इसी प्रकार मात्र निश्चयनयका आलम्बन करने वाला भी मिथ्यादृष्टि है।

तस्याद्व्यवहार इव प्रकृतो आत्मानुभूतिहेतुः स्यात् ।
अयमहमस्य स्वामी सदवश्यम्भाविनो विकल्पत्वात् ॥६५३॥

व्यवहारनयकी तरह निश्चयनयके पक्षमें भी आत्मानुभूति हेतुताका

प्रभाव—उक्त कथनके साराशरूपमें इस गाथामे यह बताया जा रहा है कि जब व्यवहारनय भी एक विकल्परूप है और निश्चयनय भी विकल्परूप है तब जैसे व्यवहारनय आत्मानुभूतिका कारण नही है इसी प्रकार निश्चयनय भी आत्मानुभूतिका कारण नही है, क्योकि निश्चयनयमे भी यह विकल्प उठ रहा है कि यह आत्मा है और मैं इसका स्वामी हू किसी भी प्रकारका विकल्प हो तो वह विकल्प आत्मानुभूतिकी स्थिति नही है। हाँ आत्मानुभूतिके नायक भूमिका बनाया ऐसा निश्चयनयका प्रयास है। तब यहाँ तीन स्थितियाँ समझना चाहिए। एक तो व्यवहारनयकी अनेक विकल्प की स्थिति, दूसरी व्यवहारके निषेध करनेरूप निश्चयनयकी विकल्पात्मक स्थिति और तीसरी स्थिति है व्यवहार और निश्चयके विकल्पसे परे होकर निर्विकल्प निजज्ञान मात्रकी अनुभूति। तो इस स्थलमे यह शिक्षा मिलती है कि हमको व्यवहारनयका आलम्बन लेकर वस्तु स्वरूपका अध्ययन करना चाहिए और उससे निश्चयनयके विषय का सकेत पाकर निश्चयनचके विषयपर दृष्टि रखना चाहिए और ऐसा करते हुएकी स्थितिमे रागवश जब सहज निश्चयनयका विकल्प भी छूटकर निर्विकल्प स्थिति हो जाय तो वह निर्विकल्प स्वात्मानुभूति अलौकिक शाश्वत आनन्दको प्रदान करने वाली होती है।

ननु केवलमिह निश्चयनयपक्षो यदि विवक्षितो भवति।
व्यवहारान्निरपेक्षो भवति तदात्मानुभूतिहेतुः सः ॥६५४॥

व्यवहारनयनिरपेक्ष निश्चयनयमे आत्मानुभूति हेतुताकी आशका—अब यहाँ शङ्काकार पुन. कहता है कि यदि हम यहाँपर केवल निश्चयनय पक्षको हो विवक्षित करें अर्थात् व्यवहारनयकी अपेक्षा न रखकर केवल निश्चयनयके विषयपर ही दृष्टि बनायें तो यह स्थिति क्या आत्मानुभूतिका कारण हो जायगी ? शङ्काकार के चित्तमे आत्मानुभूतिका महत्त्व तो बैठा हुआ है तभी उसके लाभके लिए जिज्ञासा बन रही है और वह स्थिति निर्विकल्प प्रतीत भी होती है। तो विकल्पका निषेध करने वाले निश्चयनयके उपायसे ऐसी आत्मानुभूतिका मिलना सहज है, ऐसी समझ भी उसकी बन रही है। जिस आधार पर वे यहाँ अपनी जिज्ञासा रख रहे हैं कि व्यवहारसे निरपेक्ष होकर यदि केवल निश्चयपक्ष ही विवक्षित रखा जाय तो भी क्या आत्मानुभवका कारण हो जायगा ? अब इस जिज्ञासाके समाधानमें कहते है।

नैवमसंभवदोषाद्यतो न कश्चिन्नयो हि निरपेक्षः।
सति च विधौ प्रतिषेधः प्रतिषेधे सति विधेः प्रसिद्धत्वात् ॥६५५॥

नयोमे निरपेक्षता न होनेसे उक्त आशंकाका अनवकाश—उक्त गाथामें

बताई हुई जिज्ञासाका समाधान दिया जा रहा है कि शङ्काकारने जो पूछा है कि व्यवहारनयसे निरपेक्ष होता हुआ निश्चयनयका पक्ष आत्मानुभूतिका कारण हो सकेगा क्या ? तो उसकी शङ्का यों ठीक नहीं है कि निरपेक्ष पद्धतिसे नयोंका प्रयोग करके आत्महितकी बात निकाले तो वह असम्भव है। इसका कारण यह है कि कोई भी नय निरपेक्ष नहीं हुआ करता। यदि निरपेक्ष विधिसे नयका प्रयोग किया जाय तो वह मिथ्यानय होगा, नयाभास होगा। यदि सम्यक पद्धतिसे नयोंका प्रयोग हो तो वह प्रयोग सापेक्ष ही हो सकेगा। देखिये ! विधिके होनेपर प्रतिषेधका होना भी अवश्य-भावी है। जहाँ विधि है वहाँ विधि है, जहाँ प्रतिषेध होगा वहाँ विधि है। नय तो वस्तुके किसी विशेष अंशको विषय करने वाला होता है, इस कारणसे नय एक विवक्षित अंशका ही विवेचन करता है, तो विवक्षित अंशका विवेचन करता हुआ दूसरे अंशकी अपेक्षा न रखे तो वह नयज्ञान सम्यक न होगा। उसे नय ही न कह सकेंगे। तो जब व्यवहारनयका प्रयोग किया जा रहा है तो व्यवहारनयमें तो विधि विषय है। तो मुख्यतासे तो विधिका कथन हो रहा है। वहाँ निश्चयनयकी अपेक्षा रखता हुआ ज्ञानी व्यवहारनयका प्रयोग कर रहा है और जब प्रतिषेधकी विवक्षा की जा रही हो तो मुख्य तो प्रतिषेध विषय है पर प्रतिषेधका बोध करने वाला ज्ञानी विधिकी भी अपेक्षा कर रहा है, इस कारण व्यवहारनय और निश्चयनय इन दोनोंमें परस्पर सापेक्षता है, अतः निरपेक्षता बताकर नयको आत्मानुभूतिका कारण बताना सङ्गत नहीं है।

ननु च व्यवहारनयो भवति यथाऽनेक एव सांशत्वात्।
अपि निश्चयो नयः किल तद्वदनेकोऽथ चैककस्त्विति चेत्॥६५६॥

व्यवहारनयकी भांति निश्चयनयको भी एक एक मिलाकर अनेक मान लेनेकी आशंका—यहाँ शङ्काकार कहता है कि व्यवहारनय अनेक हैं क्योंकि वे अंशसहित हैं, ऐसा जो बताया है वह ठीक है। अब यह भी देखिये कि जैसे व्यवहारनय अनेक हैं यों ही निश्चयनय भी तो एक एक मिलकर अनेक बन जायेंगे। तो निश्चयनयको भी अनेक स्वीकार किए जानेमें क्या दोष है ? तब व्यवहारनयकी भांति निश्चयनय भी अनेक सिद्ध हो जाते हैं। जैसे व्यवहारनय विकल्पात्मक है इसी प्रकार निश्चयनय भी विकल्पात्मक है, यह तो माना ही गया है। व्यवहारनयमें विधिका विकल्प है तो निश्चयनयमें निषेधका विकल्प है। तो जैसे विकल्पात्मकताके रूपसे व्यवहारनय और निश्चयनय समान हैं इसी प्रकार अनेकात्मकताके रूपसे भी व्यवहार और निश्चय समान होंगे। और भी परखिये ! व्यवहारनय वस्तुके अंशको ग्रहण करता है, निश्चयनय भी वस्तुके अंशको ग्रहण करता है। तो अंशग्राह्यता होनेसे जैसे दोनों नय समान हैं ऐसे ही दोनों नय अनेकरूप भी बनकर समान हो जायें तथा

निश्चयनय पक्षग्राही है और व्यवहारनय भी पक्षग्राही है। तो पक्षग्राहिताकी दृष्टिसे जैसे दोनो नय समान हैं, उसी प्रकार अनेकरूपतासे भी दोनोंकी समानता कहियेगा। तो यो व्यवहारनयकी भाति निश्चयनयको भी अनेक मान लिया जाना चाहिए। अब इस शङ्काका समाधान करते हैं।

नैवं यतोस्त्यनेको नैकः प्रथमोप्यनन्तधर्मत्वात।
न तथेति लक्षणत्वादस्त्येको निश्चयो हि नानेकः ॥ ६५७ ॥

न तथेति लक्षण होनेसे निश्चयनयमे अनेकताकी अनापत्ति—उक्त शङ्काके समाधानमें कहते है कि शङ्काकारका यह भाव कि जैसे व्यवहारनय साश होनेसे अनेक है, इसी प्रकार निश्चयनय भी एक एक मिलकर अनेक होजायगा। यह बात यों सङ्गत नही है कि व्यवहारनय तो अनन्तधर्मात्मक है, उसमे अनेक विधियां पडी हुई हैं इस कारण व्यवहारनय अनेक हैं। परन्तु निश्चयनय अनेक नही है, क्योंकि निश्चयनयका लक्षण न तथा अर्थात् जैसा व्यवहारनय कहता है वैसा वस्तुत. नही है। इस तरह निषेध निश्चयात्मकका विषय है और निषेधमे आता है अभाव तो अभाव सब एक रूप है इस कारण कितने ही धर्मोके विवेचन क्यो न किए जायें जब निश्चयनयके द्वारा उन सबका निषेध किया जा रहा है तो निषेध करना मात्र निश्चयनयका कार्य हुआ इस कारणसे निश्चयनय अनेक नही हो सकता किन्तु वह एक है। सर्व प्रकारकी व्यवहार विधियोका निषेध भी एक है और प्रत्येक पदार्थ के सम्बन्धमे जो निश्चयनय आता है वह सब निषेधरूप है। तो सबका निषेध जोडकर भी कही निषेधोंकी सख्या बढ नही जाती। अत निषेध विषय एक है तथा निषेध करके जो तत्त्व लक्ष्यमे लिया गया है या जिस तत्त्वको लक्ष्यमे रखते हुए निषेध किया जा रहा है व्यवहारका वह विषय भी एक अखण्ड है, इस कारण निश्चयनय को अनेक नही कह सकते।

संदृष्टिः कनकत्वं ताम्रोपाधेर्निवृत्तितो यादृक्।
अपरं तदपरमिह वा रुक्मोपाधेर्निवृत्तिवस्तादृक् ॥६५८॥

दृष्टान्त पूर्वक निश्चयनयकी एकताका प्रतिपादन—उक्त समाधानमे यह कहा गया है कि निश्चयनय एक है, इसका कारण इस गाथामे बताया जा रहा है और उसके विवरणके लिए दृष्टान्त दिया जा रहा है। जैसे किसी सोनेमें तांबा मिला है, किसी सोनेमे चांदी मिली है, किसी सोनेमें अन्य धातु मिली है, जब उस उपाधिको दूर कर दिया जाता है अर्थात् प्रयोग द्वारा तांबा, पीतल, चाँदी आदिको उस सोनासे अलग कर दिया जाता है तो हुआ क्या वहाँ ? उस मिश्रित धातुकी तो निवृत्ति हुई

और खालिस स्वर्ण रह गया। तो जैसे सोनेके डलेमें चांदीका सम्बन्ध बना है उसे प्रयोग विधिमें अगर अलग कर दिया तो चांदी उपाधिकी निवृत्ति हो गई। उस उपाधिकी निवृत्ति होनेमें वहाँ स्वर्णत्व शुद्ध प्रकट हो गया। तो वहाँ निवृत्तिमें भेद नहीं है। और जो प्रकट हुआ है उसमें भेद नहीं। सोना तांबेकी उपाधिकी निवृत्तिमें जिस प्रकार है उस ही प्रकार चांदीकी उपाधि दूर होनेसे सोनेमें जो तांबा, पीतल, चांदी आदिक उपाधियाँ हैं वे उपाधियाँ तो अनेक हैं परन्तु उनका अभाव होना अनेक नहीं है। अभाव सदभावात्मक होता है। उन सब उपाधियोंका अभाव हुआ तो सद्भाव क्या मिला ? केवल सोना। तो किसी भी उपाधिका अभाव क्यों न हो, वह एक अभाव रहेगा, अर्थात् वस्तुका शुद्ध सद्भाव रहेगा। प्रत्येक उपाधिकी निवृत्तिमें स्वर्ण तो स्वर्ण ही रहेगा, इसी प्रकार समझ लेना चाहिए कि किसी वस्तुके स्वरूपका वर्णन करनेके लिए व्यवहारनयका प्रयोग किया गया तो उस व्यवहारनयमें अनेक प्रकारसे भेदका वर्णन होगा। तो वह भेद कथन तो नाना रूपोंसे है अतएव व्यवहार अनेक है, पर भेदकी निवृत्ति, भेदका निषेध तो एक निषेधात्मक है और उसका निषेध करके जो लक्ष्यमें रहा है वह भी एक रूप है इस कारणसे निश्चयनयको अनेक नहीं कहा जा सकता। अनेक तो व्यवहारनय ही हो सकेगा।

एतेन हतास्ते ये स्वात्मप्रज्ञापराधतः केचित्।
अप्येकनिश्चयनयमनेकमिति सेवयन्ति यथा ॥६५६॥

निश्चयनयके अनेकत्वके प्रतिपादनकी असंगतता—उक्त कथनसे उन दोनोंका यह आशय खण्डित हो जाता है जो पुरुष अपने ज्ञानके दोषसे निश्चयनयको अनेक समझता है। यद्यपि अपेक्षा विधिसे निश्चयनयके भी अनेक भेद किए गए हैं, लेकिन निश्चयनय इस रूप रहे ऐसा उन सबमें नहीं पाया जाता। स्वाश्रित वर्णनसे निश्चयनयका लक्षण उन अनेक प्रकारके निश्चयनयोंमें घटित हो जाता है, पर निश्चयनय ही रहे कभी वह व्यवहारनयका रूप न ले सके ऐसी बात बताई गई सर्व निश्चयनयके भेदमें नहीं है, किन्तु एक परम शुद्ध निश्चयनयमें ही है। निश्चयनय भी अन्तर्दृष्टिके मिलनेपर व्यवहारनय बन जाता है। इसी लक्ष्यको लेकर यह बात कही जा रही है कि जो कभी व्यवहारका रूप ही न बिगड सके ऐसा निश्चयनय अनेक नहीं होता, किन्तु वह एक है। जो निश्चयनयको अनेक समझते हैं उन्हें वस्तुके अखण्ड तत्त्वका परिज्ञान नहीं है। निश्चयनयके अनेक भेद करके भी इतना यदि बोध रहे कि यह कभी व्यवहारनय न बन सकेगा। निश्चयनय ही रहेगा और यह व्यवहार बन जायगा, यह सदा निश्चयरूप न रहेगा। ऐसा परिज्ञान हो तब तो वहाँ बोध ठीक है लेकिन निश्चयनय ही है और अनेक प्रकारके हैं ऐसा परिचय वस्तु स्वरूपके अनुरूप नहीं है।

शुद्धद्रव्यार्थिक इति स्यादेकः शुद्धनिश्चयो नाम ।
अपरोऽशुद्धद्रव्यार्थिक इति तदशुद्धनिश्चयो नाम ॥ ६६० ॥

इत्यादिकाश्च बहवो भेदा निश्चयनयस्य यस्य मते ।
सहि मिथ्यादृष्टित्वात् सर्वज्ञाज्ञानमानितो नियमात् ॥ ६६१ ॥

निश्चयनयके भेदोके कथनकी मिथ्यारूपता - कोई लोग निश्चयनयके इस प्रकार अनेक भेद करते हैं। जैसे एक शुद्ध द्रव्यार्थिकनय व शुद्ध निश्चयनय कहलाता है। शुद्ध द्रव्यार्थिकनयका अर्थ किया जाता है उपाधिरहित शुद्ध द्रव्य जिस नयका विषय है वह आशयमे यद्यपि शुद्ध द्रव्यको विषय किया गया है किन्तु शुद्ध निर्मल पर्याय परिणत शुद्ध द्रव्यको देखा है तो वहाँ अभेद न रहा, इस कारण निश्चयनयके विशुद्ध लक्षणका अवकाश न रहा फिर भी निश्चयनय कहा जा रहा है यद्यपि स्वाश्रित वर्णन किया जा रहा है अर्थात् किसी भी पर पदार्थका उपचार सम्बन्ध लेकर वर्णन नही है उस ही द्रव्यको उस ही द्रव्यमे उसकी शुद्धता बताई जा रही है अतएव निश्चयनयका लक्षण घटित हो गया, किन्तु जो निश्चयनय कभी व्यवहार न बन सके इस प्रकारके निश्चयनयका लक्षण नही गया, फिर भी भेद कर रहे है और निश्चयनयको अनेक बता रहे है। कोई पुरुष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनयको अशुद्ध निश्चयनय कहता है। इस दृष्टिमे क्रोधादिक विकार परिणत द्रव्यको विषय किया गया है। यहाँ भी वर्णन स्वाश्रित है। कर्मसे विकार नही आया, कर्मका विकार नही है आदिक रूपमे परका निषेध है, परका आश्रय नही लिया गया है। स्वयके द्रव्यमे स्वयकी बात कही जा रही है। चाहे वह विकार भी है अतएव निश्चय नयका सामान्य लक्षण घटित हो गया किन्तु जो निश्चयनय कभी व्यवहारका रूप न पकड सके वह अभेद वाला लक्षण नही गया, फिर भी इसे निश्चयनय कहा जारहा है और उसके अनेक भेद किए जा रहे हैं। इसी प्रकार और भी बहुतसे भेद जिनके मतमे है उनका आशय निश्चयनयके परम लक्षणकी दृष्टिसे मिथ्या है और वह सर्वज्ञ की आज्ञाका उल्लघन करने वाला है। निश्चयनयके वास्तवमे शुद्ध अशुद्ध आदिक कोई भेद नही होते, यह तो केवल निषेधात्मक है फिर भी उसके कोई भेद करे तो सर्वज्ञकी आज्ञाका उल्लघन करने वाला है। अतएव उसकी दृष्टि मिथ्या है। निश्चय को स्वसमयकी अपेक्षासे निरखनेपर शुद्ध अशुद्ध आदिक भेद न होगे, किन्तु ये सब भेद व्यवहारनयमे गर्भित होगे। क्रोधादिक भाव अशुद्ध द्रव्यार्थिकनयसे आत्माके हैं, यह कथन यद्यपि असत्य नही है तो भी यहाँ भेद आ गया इस कारणसे निश्चयनय नही है। यह निश्चयनयकी प्रकृति लक्षणकी दृष्टिसे निश्चयनयसे बहिर्भूत है, व्यवहारनय मे गर्भित । इसी प्रकार आत्माके ज्ञान, दर्शन आदिक गुण है ये भेद सापेक्ष

कल्पना भी अशुद्ध द्रव्यार्थिकनयसे बनाई गई है अथवा रागादिक भावोंका कर्ता जीव है, यह भी अशुद्ध निश्चयनयसे कहा गया है। तो चूंकि स्वाश्रित वर्णन किया जा रहा इस कारण निश्चयनय भले ही इसमे माना जाय, लेकिन भेद हटनेसे यह सब व्यवहारनयमे गर्भित हो जाता है। यो निश्चयनयकी प्रकृतिसे यह बहिर्भूत है। अतएव यह कोई भी निश्चयनय वास्तवमे निश्चयनय नही है किन्तु व्यवहारनय है। यो निश्चयनय अनेक नही हुआ करते।

इदमत्र तु तात्पर्यमधिगन्तव्य चिदादि यद्वस्तु।
व्यवहारनिश्चयाभ्यामविरुद्धं यथात्मशुध्यर्थम् ॥ ६६२ ॥

व्यवहारनय व निश्चयनय द्वारा अविरुद्ध रीतिसे परिज्ञात जीवादि पदार्थोंकी आत्मशुद्धिके लिये उपयुक्तता—नयोंका यहां तक कुछ विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है और जिस पद्धतिसे वर्णन किया गया है उस पद्धतिसे हमको यह आदेश मिलता है कि यहां इन सब वर्णनोका यह तात्पर्य जानना कि जीवादिक जो तत्त्व हैं, पदार्थ हैं वे आत्मशुद्धिके लिए तभी उपयुक्त हो सकते हैं जबकि ये सब पदार्थ व्यवहारनय और निश्चयनयके द्वारा अविरुद्ध रीतिसे जाने जाते हैं। व्यवहारनयसे समझा निश्चयनयकी ओर जानेके लिए और जिस भेद पद्धतिसे समझा वह भेद मिटाने के लिए। निश्चयनयने समझा निश्चयनयका विकल्प भी मेटकर निर्विकल्प अनुभूति पानेके लिए। तो इन नयोंसे हम जो परिज्ञान करते हैं उसका सही-सही प्रयोजन भी हमारी दृष्टिमे रहे तो उससे हम आत्महितकी साधना सहज ही कर सकते हैं और आत्मसाधनाके लिए यह नयोका परिचय होना और सही पद्धतिसे नयोका प्रयोग करना आवश्यक था, इस कारण यहां इन सब नयोका वर्णन किया गया है।

अपि निश्चयस्य नियतं हेतुः सामान्यमात्रमिह वस्तु।
फलमात्मसिद्धिः स्यात् कर्मकलकावमुक्तबोधात्मा ॥ ६६३ ॥

निश्चयनयके विषय और फलका प्रतिपादन—निश्चयनयको कारण क्या है? और निश्चयनयका फल क्या है अर्थात् निश्चयनयके प्रयोगसे आत्माकी क्या स्थिति बनती है? इन सब बातोका वर्णन इस गाथामें किया गया है। निश्चयनयका नियत हेतु सामान्य मात्र वस्तु है। वस्तु सामान्य विशेषात्मक है। उसमें सामान्यतत्त्व को मुख्य लक्ष्यमे लेकर जो एक अभेद दृष्टि बनती है वह अभेद दृष्टि यह जता रही है कि ऐसी दृष्टि होनेका कारण है सामान्य मात्र वस्तु। तो सामान्यमात्र वस्तुके विषय करने वाले निश्चयनयके प्रयोगसे फल क्या मिलता है? वह फल है आत्मशुद्धि! आत्माका अखण्ड सामान्य स्वरूप जानें। उस अवगमने विकल्प टूटकर निर्विकल्पता

आनेका अवसर है। तो उसका फल इस प्रकार निर्विकल्प आत्मतत्त्वकी अनुभूति है। यो निश्चयनयसे वस्तुका बोध करनेपर यह आत्मा स्वात्मानुभूतिमे प्रवेश करता है और स्वात्मानुभूतिकी निरन्तरतासे यह आत्मा सर्व कर्म कलङ्कोसे मुक्त परिपूर्ण ज्ञानानन्दमय हो जाता है।

पञ्चाध्यायी प्रवचन

[अष्टम भाग]

●

प्रवक्ता .

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक मनोहरजी वर्णी सहजानन्द' महाराज

●

उक्तो व्यवहारनयस्तदनु नयो निश्चयः पृथक् पृथक् ।
युगपद्द्वयं च मिलितं प्रमाणमिति लक्षणं वक्ष्ये ॥ ६६४ ॥

ग्रन्थकारका प्रमाण स्वरूप कहनेका संकल्प—पूर्व प्रसङ्गमे व्यवहारनयका स्वरूप भेद प्रभेद पूर्वक खुलासा बताया गया है और उसके बाद निश्चयनयका भी स्वरूप कहा गया है ? अब यहाँ यह बतायेंगे कि दोनो ही नय भिन्न-भिन्न स्वरूप वाले तो हैं, किन्तु जब एक साथ दोनो नय मिल जाते हैं तो वही प्रमाणका स्वरूप कहलाता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि प्रमाणमे ता सर्व नयोसे परिज्ञात जो वस्तु है उसको सर्वाङ्ग रूपसे माननेकी बात है। और नयोंमे प्रमाणसे गृहीत उस एक वस्तु के भिन्न-भिन्न अंशोको ग्रहण करने वाली बात है। इस ही कारण यहाँ यह निर्देश किया गया है कि व्यवहारनय और निश्चयनय ये दोनो भिन्न-भिन्न स्वरूप वाले हैं। व्यवहारनय जहाँ भेद करता है तो निश्चयनय वहाँ ऐसा भेद करता है कि वह वचनो के गोचर भी नहीं रह पाता। तो इन दोनोका परस्परने भिन्न-भिन्न स्वरूप है। लेकिन वस्तु न केवल व्यवहारनय मात्र है न केवल निश्चयनय मात्र है। वस्तु तो व्यवहारनय और निश्चयनय दोनोको जो कुछ वहाँ समझा गया उस सर्वरूपसे विदित होता है। तो प्रमाण दोनो नयोंमे मिलकर कहलाता है। ऐसे उस प्रमाणका लक्षण इस प्रसङ्गमें कहेंगे।

विधिपूर्वः प्रतिषेधः प्रतिषेधपुरस्सरो विधिस्त्वनयोः ।
मैत्री प्रमाणमिति वा स्वपराकारावगाहि यज्ज्ञानम् ॥ ६६५ ॥

विधिप्रतिषेधको मैत्री व स्वपराकारावगाहि ज्ञानको प्रमाणरूपता—

नयोंका जो वर्णन किया गया था उसमे यह समझा गया कि व्यवहारनयका विषय तो विधि है और विधि होती है भेदपरक और निश्चयनयका विषय निषेध है सो ये दोनो बातें अलग-अलग नही है, किन्तु विधिपूर्वक प्रतिषेध होता है और प्रतिषेधपूर्वक विधि होती है। अब विधि और प्रतिषेधके द्वारा दोनोकी जो मैत्री है वह प्रमाण कहलाता है। जैसे व्यवहारनयसे विधिके माध्यमसे जाना कि जीवमे ज्ञान है, दर्शन है, चारित्र है आदिक और निश्चयनयसे यह जाना कि व्यवहारनयने जो कहा है वैसा पदार्थ नही है अर्थात् ज्ञान, दर्शन चारित्र ये कोई जुदी वस्तु हो और फिर ये आत्माके पास रहते हो ऐसा नही है किन्तु वह वस्तु अखण्ड है। तो वस्तु गुणरूप है, उसमे गुण है और वह अखण्ड है। गुणका भी वहाँ भेद नही है। इस तरहकी मैत्रीपूर्वक जो ज्ञान हो रहा है वह प्रमाण ज्ञान कहलाता है। अथवा दूसरे लक्षणसे देखिये कि प्रमाण ज्ञान वह है जो स्व और परको जानने वाला है। स्वका अर्थ स्वय ज्ञान वह अपने आपको जानता है और परका अर्थ है सब पर पदार्थ। तो यो स्व और परको जानने वाला जो ज्ञान है वही प्रमाण कहलाता है। अब इसी प्रमाणके स्वरूपको स्पष्ट करते हैं।

अयमर्थोर्थविकल्पो ज्ञानं किल लक्षणं स्वतस्तस्य।
एकविकल्पो नयसादुभयविकल्पः प्रमाणमिति बोधः ॥६६६॥

प्रमाणके उक्त स्वरूपका स्पष्टीकरण—प्रमाणका जो स्वरूप कहा गया है उसका स्पष्टीकरण यह है कि ज्ञानका लक्षण ही अर्थविकल्प है अर्थात् पदार्थाकार प्रतिभासके परिणमन करनेका ही नाम अर्थ विकल्प है। जब ज्ञानकी वृत्ति बनती है तो उसका स्वरूप यो ही निर्मित होता है कि वहाँ परपदार्थके सम्बन्धमे कोई प्रतिभास किया जारहा है। तो वह प्रतिभास क्या है? पर पदार्थका ग्रहण रूप है। यद्यपि पर पदार्थको ज्ञान ग्रहण नही करता, ज्ञान आत्मप्रदेशोमे रहता है, पर पदार्थ परमे रहता है फिर भी पर पदार्थ विषयक जो जानकारी हो रही है वह उस ही पदार्थाकार कहलाती है। तो यो पदार्थाकार परिणमन करनेका नाम अर्थविकल्प है। अब उस ज्ञानमे प्रकार निरखिये! वह ज्ञान जब एक विकल्प होता है अर्थात् एक अशको विषय करता है तो वह ज्ञान नयाधीन रहता है याने वह नयरूप ज्ञान हैं। जो पदार्थके एक अशको विषय करे उसे नय कहते है और वही ज्ञान जब उभय विकल्प रूप होता हैं अर्थात् सभी अशोको ग्रहण करने वाला होता है तब वही प्रमाण कहलाने लगता है। जितने भी इसमें धर्म कहे जा सकते है उनको दो भागोमे विभक्त किया जा सकता है। एक सामान्य दूसरा विशेष। तो पदार्थके सामान्यरूपसे वह प्रतीत होता है और विशेषरूपसे भी प्रतीत होता है। पदार्थके सम्बन्धमे जो अनुगत प्रतीति है उसे सामान्य प्रतीति कहते हैं। यह वही है, सभी पदार्थोंमे वही यह है, ऐसा जिस धर्मको लेकर

सामान्यतया प्रतीति हो रही हो उसको कहते हैं सामान्य प्रतीति । और विशेष विशेष पर्यायरूप प्रतीति होती हो, जहाँ विशेष विशेष रूपसे समझा जा रहा हो, उसे विशेष प्रतीति कहते हैं । तो यो दोनों प्रकारकी प्रतीतियाँ पदार्थमें तब ही सम्भव हैं जबकि वह सामान्य विशेषात्मक हो । सामान्य विशेषात्मक पदार्थ है तभी ज्ञान सामान्य और विशेष दोनों प्रकारसे प्रतीति होती है । तो इससे ही यह सिद्ध हुआ कि पदार्थ उभयात्मक है अर्थात् सामान्य विशेष स्वरूप है । न्याय व सिद्धान्त शास्त्रोंमे भी ऐसा ही वर्णन किया गया है कि प्रमाणका जो विषय है वह सामान्य विशेषात्मक पदार्थ है । अब उनमेंसे जो सामान्य अंशको ग्रहण करे वह तो द्रव्यार्थिक हुआ और विशेष अंश को जो ग्रहण करे वह पर्यायार्थिक हुआ । तो दोनों अंशोंको एक साथ कोई विषय करे तो वह प्रमाण ज्ञान कहलाता है ।

ननु चास्त्येविककल्पोप्यविरुद्धोभयविकल्प एवास्ति ।
कथमिव तदेकसमये विरुद्धभावद्वयोर्विकल्पः स्यात् ॥६६७॥

अथ चेदस्ति विकल्पो क्रमेण युगवद्धा वलाद्वाच्यः ।
अथ चेत् क्रमेय नय इति भवति न नियमात्प्रमाणमितिदोषः ६६८

युगपच्चेदथ न मिथो विरोधिनोर्यौगपद्यं स्यात् ।
दृष्टि विरुद्धत्वादपि प्रकाशतमसोद्वयोरिति चेत् ॥६६९॥

विरुद्ध धर्मोंके एकत्र रहनेकी विधिकी जिज्ञासा—अब यहाँ शङ्काकार कहता है कि कोई एक विकल्प हो वह अविरोधी दो विकल्पों वाला हो सकता है, अर्थात् एक वस्तुमे अविरोधी कई धर्म रह सकते हैं परन्तु कोई भी विकल्प एक ही समयमें विरोधी दो भावोंरूप कैसे हो सकता है । यहाँ तो प्रमाणका स्वरूप बतानेके लिए दो विरोधी धर्मोंको एक साथ बताया जा रहा है, परन्तु यह बात असम्भव है कि एक समयमे विरोधी दो भावोका विकल्प कैसे बन सकता है ? यदि विरोधी दो भावो के विकल्प माने जायें तो यह बताओ कि वे दो विकल्प क्रमसे हो सकते हैं या एक साथ उनका प्रयोग किया जा सकता है ? यदि विरोधी दो धर्मोंको क्रमसे माना जाता है तो जब क्रम रहा तो एक समयमे एक ही नय रहा । तो यो नयका ही स्वरूप बना, प्रमाण तो न बन सका । यदि कहा जाय कि वे दोनो धर्म एक साथ होते हैं तो भला इसे कौन मानेगा कि विरोधी धर्म एक साथ रह सकते हैं । जैसे अंधकार और प्रकाश ये दो विरोधी धर्म हैं तो इनका एक साथ रहना सम्भव नहीं है । सभी लोग इस बातसे परिचित हैं तो इसमे अधिक प्रमाण क्या देना है ? दो विरोधी धर्म एक साथ सम्भव नहीं हो सकते हैं । फिर प्रमाणका लक्षण कैसे बन सकेगा कि दोनो नय

मिलकर प्रमाण कहलाते हैं ? अब इस शङ्काका समाधान करते हैं।

न यतो युक्तिविशेषाद्युगपद् वृत्तिविरोधिनामस्ति ।
सदसदने केषामिह भावाभावध्रुवाध्रुवाणाश्च ॥ ६७० ॥

विरोधी धर्मोंके एकत्र रहनेकी विधि—समाधानमें कहते हैं कि शङ्काकार की उक्त शङ्का सङ्गत नहीं है, क्योंकि युक्तिविशेषसे विरोधी धर्मोंकी एक साथ वृत्ति हो सकती है। जैसे सत् असत्, भाव अभाव, नित्य अनित्य, भेद अभेद ध्रुव अध्रुव आदिक अनेक धर्मोंकी एक पदार्थमे वृत्ति होना सम्भव है। भले ही स्थूल दृष्टिसे सत् असत् आदिक धर्म परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं। जो सत् है वह असत् कैसे ? जो असत् है वह सत् कैसे ? तो उनमे विरोध प्रतीत होता है लेकिन जब सूक्ष्म दृष्टिसे विचार किया जाय, सापेक्ष दृष्टि रखकर जब इसकी मीमासा की जायगी तो ये सब अविरोधी प्रतीत होने लगेंगे। अब दूसरी निगाहसे इस निर्णयको सुनिये ! एक पदार्थमे विरोधी दो धर्म बन रहे तो यह तो पदार्थका स्वभाव है, असम्भवता कैसे कही जायगी ? परस्पर विरोधी धर्मोंको भी एक समयमे पदार्थ धारण करे यह तो द्रव्य और पर्याय शक्तिके कारण सङ्गत ही है। द्रव्य दृष्टिसे पदार्थ सदा सतरूप है तो वही पदार्थ पर्याय दृष्टिसे असत है। द्रव्य दृष्टिसे पदार्थ भावरूप है। तो वही पदार्थ पर्याय दृष्टिसे अभावरूप है। ऐसे ही समझना चाहिए कि पदार्थ नित्यरूप और अनित्यरूप भी है। सिद्धान्त शास्त्र इस तथ्यका विवाद करता है कि पदार्थ पर्याय दृष्टिसे उत्पन्न होता है और नष्ट होता है परन्तु द्रव्य दृष्टिसे न उत्पन्न होता है और न नष्ट होता है, तभी तो यह बात समतभद्राचार्यने बताया कि सत् सामान्यकी दृष्टिसे देखा जाय तो सर्व पदार्थोमे समानता है, अथवा सभी पदार्थ एक हैं और जब द्रव्यादिकका भेद करके निरखा तो पदार्थ पृथक पृथक हैं। जैसे कि एक असाधारण हेतुकी तरह। वही हेतु अपना साध्य सिद्ध करनेके लिए हेतु रूप है, पर असाध्य सिद्ध करनेके लिए वह अहेतु रूप है। तो इसी तरह पदार्थ भी द्रव्य क्षेत्र, काल, भावकी अपेक्षासे भिन्न भिन्न है, अनेक है, परन्तु वही पदार्थ सत्-सामान्यकी अपेक्षासे अभिन्न है, एक रूप है, इस कारण पदार्थ कथञ्चित भेद विवक्षासे एक, अनेक, भिन्न-अभिन्न आदिक अनेक धर्मों वाला हो जाता है। वह धर्म अपेक्षा दृष्टि लगाये बिना विरोधी प्रतीत होता है और वह ही धर्म अपेक्षा दृष्टि लगाकर अविरोधी प्रतीत होने लगता है।

अयमर्थो जीवादौ प्रकृतपरामर्शपूर्वकं ज्ञानम् ।
यदि वा सदभिज्ञानं यथा हि सोयं बलादृद्वयामर्शि ॥६७१॥

व्यवहार व निश्चयके परामर्श पूर्वक हुए ज्ञानमें सदभिज्ञानता व

प्रमाण रूपता—प्रमाणके स्वरूपमे जो कुछ कहा गया है उसका भावार्थ यह है कि जीवादिक पदार्थोंके विषयमे व्यवहार और निश्चयनयके विचार पूर्वक जो ज्ञान होता है वह प्रमाण ज्ञान कहलाता है। अथवा प्रमाणका लक्षण दूसरी प्रकारसे यो कह सकते हैं कि पदार्थके सम्बन्धमें जो सत् अभिज्ञान अर्थात् एकत्व प्रत्यभिज्ञानकी तरह का बोध है जो कि एक वस्तुके सामान्य और विशेप दोनो अवस्थाओको एक समयमें ग्रहण कर सके ऐसे ज्ञानको प्रमाण कहते हैं। प्रमाण वस्तुका सर्वात्मक बोध है। वस्तुमे जो अश है उनको दो विभागोंमें कहा जा सकता है एक सामान्य दूसरा विशेप। सामान्यके तो भेद नही होते, कुछ विशेप विभिन्न प्रकारके होते हैं। यों सामान्य विशेष धर्मयुक्त जो ज्ञान है उसका नाम प्रमाण है। जैसे यह वही है ऐसा कहनेमे कुछ सामान्यका भी बोध हो और विशेषका भी इनके साथ बोध होता है, ऐसे सामान्य विशेषात्मक ज्ञानको प्रमाण कहते हैं। अब इसीका स्पष्टीकरण दृष्टान्त द्वारा करते हैं।

> सोय जीवविशेषो यः सामान्येन सदिति वस्तुमयः।
> संस्कारस्य वशादिह सामान्यविशेपज भवेज्ज्ञानम् ॥ ६७२ ॥

सदभिज्ञानका उदाहरण—यहाँ वही जीव विशेष है जो सामान्यरूपसे सन्मात्र वस्तुरूप है। उस ही सतपदार्थमें सस्कारके कारण जो सामान्य विशेप जन्य ज्ञान होता है उसको प्रकाणज्ञान कहते हैं। वस्तु तो जब सामान्य दृष्टिसे परखा गया तो वह विशेष पदार्थरूप प्रतीत होता है। जैसे वस्तुमे साधारण और असाधारण गुण होते हैं तो वस्तु जब ग्रहणमें आता है तो यह नहीं है कि साधारण धर्म न आयें ग्रहणमे और असाधारण धर्म आ जायें। ऐसा भी न हो सकेगा कि असाधारण धर्म ग्रहणमें आ जायें और साधारण धर्म ग्रहणमे न आयें। तब ही वस्तुका बोध होता है तो साधारण असाधारण धर्मोयुक्त एक वस्तुका ग्रहण होता है। सामान्य दृष्टिमे वस्तु भले ही सन्मात्र प्रतीत है विशेष दृष्टिसे वही वस्तु विशेष पदार्थरूप प्रतीत है। पर यह भी तो बात है कि जो जीव पदार्थ सन्मात्र प्रतीत हो वही जीव विशेष भी जाना जाता है। तो यो सन्मात्र और जीव विशेष इनका बोध एक साथ होता है। वही समझिये। सामान्य विशेषको विषय करने वाला प्रमाणज्ञान है।

> अस्त्युपयोगि ज्ञानं सामान्यविशेषयोः समं सम्यक।
> आदर्शस्थानीयात् तस्य प्रतिविम्बमात्रतोऽन्यस्य ॥ ६७३ ॥

युगपत् सामान्य विशेषके उपयोगात्मक ज्ञानका निर्देशन—यहाँ किसी को यह जिज्ञासा हो सकती है कि सामान्य और विशेषका उपयोगात्मक ज्ञान क्या

एक साथ हो सकता है ? वस्तुमे साधारण धर्म है और असाधारण धर्म है । अब उन सबका उपयोगात्मक ज्ञान एक साथ किस प्रकार होता होगा ? ऐसी जिज्ञासा यदि किसीको हुई हो तो उसका समाधान भी इस गाथामे दिया गया है । सामान्य, विशेष का उपयोगात्मक ज्ञान एक साथ हो सकता है । उसके लिए यह दृष्टान्त दिया गया है कि दर्पणमे जो प्रतिविम्ब पडता है वह प्रतिविम्ब यद्यपि दर्पणसे कथञ्चित भिन्न है, क्योंकि वह दर्पणका स्वभाव नही है । उपाधिका निमित्त पाकर दर्पणपर विकार आया है । वह प्रतिविम्बविकार दर्पणसे कथञ्चित भिन्न है तो भी उस प्रतिविम्बका और दर्पणका एक साथ बोध होता है और यह भी बात है कि दर्पण और प्रतिविम्ब ये एक ही अर्थमे तो हैं कोई भिन्न भिन्न पदार्थ नही है । यो ही समझिये कि अनेक प्रकारका जो चित्रज्ञान होता है सो वहाँ अनेकका ज्ञान हुआ ना, और एक साथ हुआ है तो इससे ही यह जान सकते हैं कि सामान्य और विशेषका उपयोग करने वाला ज्ञान एक साथ हो सकता है इसमे किसी भी प्रकारका सदेह नही है, और जब सामान्य विशेषका एक साथ उपयोगी ज्ञान है तो उस ही ज्ञानको प्रमाण ज्ञान कहा जाता है तो प्रमाण ज्ञान वस्तुका सकलादेश ज्ञान होता है ।

ननु चैवं नययुग्मं व्यस्तं नय एव न प्रमाणं स्यात् ।
तदिह समस्तं योगात् प्रमाणमिति केवलं न नयः ॥ ६७४ ॥

सामान्यविशेषोपयोगी ज्ञानमे नयत्व या प्रमात्व किसी एककी सिद्धि की आशङ्का - अब यहा शङ्काकार कहता है कि प्रमाणका यहाँ भिन्न स्वरूप क्या आया ? दोनो नय जब अलग अलग प्रयुक्त किए जाते है तब तो वे नय कहलाते हैं और जब उन दोनो नयोको मिलाकर एक साथ प्रयोगमे लाया जाता है तब उसे आप यहाँ प्रमाण कहने लगे । तो नय चीज क्या रही प्रमाणसे अलग ? बात वही ज्ञानमे आई जो नयोमे आ रही थी । नयोंसे निराला कुछ ज्ञान प्रमाणने नही किया । हाँ, इतना भर भेद हुआ कि जब अलग अलग प्रयोग किया तो नय हो गया और जब एक साथ प्रयोग किया तो प्रमाण बताने लगे । तो कह लीजिए उनको कि वह नयोका एक साथ वाला प्रयोग है और कोई होता है नयोका भिन्न भिन्न रूपका प्रयोग । तो प्रयोग करनेकी पद्धतिमे ही अन्तर आया, चीज तो वह एक ही है । जैसे नय कहा है पहिले विस्तार पूर्वक, तो वह सब नय ही है । और, नयोसे निराला प्रमाण कुछ न कहलायगा । तब प्रमाणका स्वरूप करनेका सकल्प करना और प्रमाणकी बात करना यह सब सङ्गत नही बैठना । अब इस शङ्काके उत्तरमे कहते हैं ।

तन्न यतो नययोगादतिरिक्तरसान्तरं प्रमाणमिदम् ।
लक्षणविषयोदाहृति हेतुफलाख्यादिभेदभिन्नत्वात् ॥ ६७५ ॥

नयोसें प्रमाणकी विलक्षणता होनेसे नय और प्रमाण दोनोंकी सिद्धि शङ्काकारकी उक्त शङ्का गो सङ्गत नही है कि प्रमाण नयोके योगका नाम नहीं है। भिन्न भिन्न प्रकारसे नयोका प्रयोग करें अथवा नयोंका योग करदें उन नयोंको मिला दें तो भी उससे प्रमाणका स्वरूप जाहिर नहीं होता। प्रमाण तो नयोंके योगसे कोई भिन्न ही वस्तु है। इसका स्वरूप विस्तारपूर्वक जानना है तो प्रमाणके सम्बन्धमें कई बातें परख लेनेसे प्रमाणका स्पष्ट रूप जाना जा सकता है। प्रमाणका लक्षण, प्रमाणका विषय, प्रमाणके उदाहरण प्रमाणके हेतु प्रमाणके फल और प्रमाणके भेद ये सब न्यारे-न्यारे हैं। अर्थात् नयोके विषय उदाहरण आदिक दूसरे हैं और प्रमाणके विषय उदाहरण आदिक दूसरे हैं, लेकिन नाम भी भिन्न-भिन्न हैं। तो नय ही प्रमाण कैसे कहलाने लगेंगे ? न जुदे-जुदे रहकर नय प्रमाण बनेंगे और न नयों का योग मिलकर प्रमाण बन सकेंगे। प्रमाण नयोसे भिन्न ही वस्तु है।

तत्रोक्तं लक्षणमिह सर्वस्वग्राहक प्रमाणमिति।
विषयो वस्तुसमस्त निरंशदेशादिभूरुदाहरणम् ॥ ६७६ ॥

सोदाहरण प्रमाणकी सर्वस्वग्राहकताका निर्देश—प्रमाणका लक्षण नयोसे भिन्न है और विषय उदाहरण भी भिन्न है। इस बातका स्पष्टीकरण संकेत रूपमे इस गाथामे किया गया है। प्रमाणका लक्षण तो वह है जो पहिले कहे। जैसे थोडे शब्दोमें यों कह लीजिए कि जो वस्तुका सर्वस्व ग्रहण करे उसको प्रमाण कहते हैं। अब देखिये ! प्रमाणका लक्षण है जो वस्तुका सर्वस्व ग्रहण करे और नयका लक्षण है जो वस्तुके एक अशको ग्रहण करे। तो लक्षणमें ही अन्तर आ गया। विषय प्रमाणका है समग्र वस्तु और नयका विषय है कोई अश। उदाहरण भी इनके न्यारे-न्यारे हैं। एक अशको जहाँ ग्रहण कराया हो ऐसे उदाहरण तो नयोके मिलेंगे और वस्तुके सर्वस्वका ग्रहण कराया गया हो, ऐसे उदाहरण प्रमाणके मिलेंगे। तो जिसका लक्षण विषय और उदाहरण भिन्न हैं वह नय कैसे कहला सकता है ? प्रमाण नयोसे भिन्न ही ज्ञान है।

हेतुस्तत्त्वबुभुत्सोः संदिग्धस्याथवा च बालस्य।
सार्थमनेकं द्रव्यं हस्तामलकवदवेतुकामस्य ॥ ६७७ ॥

प्रमाणकी सर्वस्वग्राहकताका प्रतीत कारण—अब प्रमाणका हेतु इस गाथामे बतला रहे हैं। प्रमाणका हेतु है प्रमाणको स्पष्ट और पूर्ण जाननेकी इच्छा। जो कोई पुरुष मदबुद्धि हो अथवा जिसको किसी तत्त्वमे सदेह हुआ हो, ऐसा कोई भी जो तत्त्वके जाननेकी इच्छा रख रहा है उसकी भीतरी इच्छा तो देखिये ! क्या वह

की इतनी ही इच्छा है कि मैं वस्तुके किसी एक ही धर्मको जानलूं। वह सर्वसे कम जाननेकी इच्छा नहीं रखता। भले ही कभी कुछ कम जान सके, लेकिन जाननेकी इच्छा सब जीवोमे सब कुछ जाननेकी होती है। अब यह अपनी-अपनी पर्यायकी योग्यता है कि उसकी दृष्टिमे सारा कितना कहलाता है, मगर इच्छा होती है सबको जाननेकी। और इस तरह जानना कि जैसे एक साथ अनेक द्रव्योको हाथमे रखे हो कोई तो उसे हाथपर रखे हुए आवलाकी तरह जाननेकी इच्छा होती है। जैसे कि आवला हाथपर रखा है, पूरा ज्ञानमे आ रहा है इसी तरह सबको पूरा स्पष्ट जानने की इच्छा जीवमे रहती है। यही इच्छा प्रमाणकी निष्पत्तिका कारण बनती है। यह है प्रमाणका हेतु।

फलमस्यानुभवः स्यात्समक्षमिव सर्ववस्तुजातस्य।
आख्या प्रमाणमिति किल भेदः प्रत्यक्षमथपरोक्षं च। ६७८।

प्रमाणका फल और प्रमाणके भेद 'इस गाथामे प्रमाणका फल प्रमाण का नाम और प्रमाणके भेदोका वर्णन किया गया है। पहिले यह बताया गया था कि प्रमाण नयोसे भिन्न है और उस भिन्नताका कारण बताया गया था कि लक्षण, विषय, उदाहरण, हेतु, फल नाम और भेद ये नयोसे निराले हैं प्रमाणके, इस कारण प्रमाण नयोसे भिन्न है। तो इनमेसे लक्षण, विषय, उदाहरण और हेतुके विषयमे वर्णन कर दिया गया है। अब यहाँ बतलाते हैं कि प्रमाणका फल क्या है? प्रमाण का फल है प्रत्यक्षकी तरह समस्त वस्तुका अनुभव होना। प्रमाण ज्ञान जब होता है तो उस प्रमाण ज्ञानके फलमे बात क्या गुजरती है? वह इस गाथामे बताया है। साफ रीतिसे सम्पूर्ण वस्तु मात्रका अनुभव होता है प्रमाणके फलमे और नयोके फलमे वस्तुके एक अशका परिचय हो रहा है। वहाँ समग्र वस्तु प्रत्यक्षकी तरह अनुभवमे नही आता। तो यो नयोसे प्रमाणका फल निराला है। प्रमाण और नयोमे नामभेद भी है। प्रमाणका नाम प्रमाण है और नयका नाम नय है। जो कि व्युत्पत्तिके ढङ्गसे भी नामके अनुकूल मर्म जान लिया जाता है और यह समझ बनती है कि हाँ ऐसे दो नाम रखना सही है। प्रमाण शब्दका व्युत्पत्त्य अर्थ है प्रकृष्ट रूपसे वस्तुका पूर्णज्ञान ध्वनित हो वह प्रमाण है और प्रमाणसे ग्रहण किए हुए वस्तुके किसी एक धर्ममे जो ले जाय उसे नय कहते हैं। तो नय और प्रमाणके नाम भी जुदे-जुदे हैं, भेद भी निराला है। प्रमाणके भेद हैं प्रत्यक्षसे विरुद्ध, फिर उनके और प्रभेद चलते हैं जबकि नयोके भेद है द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। तो इस तरह जैसे प्रमाणके लक्षणमे भेद है, प्रमाण तो होता है सकलादेशजन्य, नय होता है विकलादेशजन्य। और जिस तरह प्रमाणके विषय, उदाहरण, हेतु आदि जुदे हैं उसी प्रकार ये फल, नाम और भेद भी जुदे हैं। अतः प्रमाण नयोसे भिन्न हैं। इनमेसे किसी एकका भी यदि लोप किया

जाता है तो दूसरेका भी लोप हो जाता है। मानो कि प्रमाण ही माना जाय, नय न माना जाय तो प्रमाणका स्वरूप भी न बनेगा। या नय माना जाय, प्रमाण न माना जाय तो नयका भी स्वरूप न बनेगा। अतः दोनोंका मानना आवश्यक है और इन दोनोका लक्षण विषय, उदाहरण आदिक सब जुदे-जुदे हैं। अथवा यो समझिये कि चाहे माध्यममे कोई एक मुख्य विशेषण ही रखा जा रहा हो परिज्ञानके लिए, लेकिन जहाँ एक विशेषणके सहारे वस्तुके सर्वस्व स्वरूपका ग्रहण होता हो वह तो है प्रमाण और जहा उस विशेष विवरणके सहार उस ही विशेषणका प्रतिपादन हो रहा हो तो उसको नय कहते हैं। यो नयका स्वरूप प्रमाणसे जुदा है लेकिन परस्परमे इनका सहयोग है। प्रमाणसे ग्रहण किए गए पदार्थके ही किसी विशेष अंशको ग्रहण करना नय कहलाता । नय यदि स्वतन्त्र निरपेक्ष हो जायगा तो वह मिथ्या हो जायगा। नय न रहेगा और सब नयोसे जो जो कुछ समझा जाता है उस सबका सर्वस्वके एक विकल्पमे जो बोध होता है उसे प्रमाण कहते है।

ज्ञानविशेषो नय इति ज्ञानविशेषः प्रमाणमिति नियमात् ।
उभयोरन्तर्भेदो विषयविशेषान्न वस्तुतो भेदः ॥ ६७९ ॥

प्रमाण और नयमें विषयभेदसे भिन्नताका प्रदर्शन - प्रमाण एक ज्ञान विशेष है और नय भी एक ज्ञानविशेष है। ज्ञानकी दृष्टिसे देखा जाय तो प्रमाण और नयमे कुछ भी भेद नहीं है, वह भी ज्ञानका एक रूप है और नय भी ज्ञानका एक रूप है किन्तु जब विषय विशेषपर दृष्टि देते हैं तो विषय विशेषकी अपेक्षासे प्रमाण और नय इन दोनोमे भेद सिद्ध हो जाता है। ज्ञानात्मकताकी दृष्टिमे तो कोई भेद नही है, लेकिन विषय तो जुदे-जुदे हैं। प्रमाण किसी और ही विषयको सकेत करता है। तो यो विषयोके भेदसे इन दोनोमे भेद है। यद्यपि वे विषय भी वस्तुके अन्तर्गत ही हैं। याने वस्तु सम्बन्धी ही विषय नयका है और वस्तु सम्बन्धी ही विषय प्रमाणका है। तो वस्तु सम्बन्धी विषय होनेपर भी प्रमाणके विषयका विशाल विस्तार है और पद्धति जुदी है और नयका विषय प्रमाणके विषयसे छोटा है, केन्द्रित है खण्डरूप है। यों विषयके भेदमे प्रमाण और नयमे भेद जाना जाता है। अब इस ही विषयका स्पष्टीकरण करते हैं कि प्रमाण और नयके विषयका किस तरह भेद है ?

स यथा विषयविशेषो द्रव्यैकांशो नयस्य योन्यतमः ।
सोप्यपरस्तदपर इह निखिलं विषयप्रमाणजातस्य॥ ६८० ॥

प्रमाण और नय विषय भेदका विवेचन—प्रमाणका विषय और नयका विषय भिन्न-भिन्न है, उसे इस तरह जानें कि द्रव्यके अनन्त गुणोंमेसे कोई सा भी

गुण विवक्षित बने तो विवक्षित अंश नयका विषय है और वह अंश तथा अन्य भी अंश यों अनन्त गुणात्मक सर्वथात्मक वस्तु प्रमाण का विषय है प्रमाण और नयके लक्षण के आधारसे भी विषयोंके भेदका स्पष्टीकरण हो जाता है। नयके लक्षण मे यह कहा गया है कि प्रमाण से ग्रहण किए हुए वस्तुके एक देश अंशको ग्रहण करे उसे नय कहते हैं। तो इसमें ही भेद नजर आयगा। प्रमाणसे ग्रहण किया गया है समस्त वस्तु और उसमेसे फिर एक अंशको ग्रहण किया है नयने तो नयका विषय हुआ खण्ड रूप और प्रमाणका विषय हुआ सर्वांश रूपे अखण्ड पूर्णवस्तु। तो यों विषयभेद आया कि वह समस्त वस्तु तो प्रमाणका विषय है और वस्तुका कोई विवक्षित गुण अंश नयका विषय है। यो प्रमाण और नयमे अन्तर है। शङ्काकारका यह आशय कि प्रमाण और नय भिन्न भिन्न नही हैं, असङ्गत है।

यदनेकनयसमूहे संग्रहकरणादनेक धर्मत्वम्।
तत्सदपि न सदिव यतस्तदनेकत्वं विरुद्धधर्ममयम्॥ ६८१॥

यदनेकांशग्राहकमिह प्रमाण न प्रत्यनीकतया।
प्रत्युत मैत्रीभावादिति नयभेदाददः प्रभिन्न स्यात्॥ ६८२॥

नयसमूहसे भिन्न प्रमाणकी असिद्धिकी आशङ्का और उसका समाधान. यहाँ शङ्काकार कहता है कि अनेक नयोके समूहमें ऐसा सग्रह किया गया तो सग्रह करनेसे ही तो वस्तुमे अनेक धर्मपना आया अर्थात् नयने तो एक-एक अंशको जाना और ऐसे जाने गए एक-एक अंशोका सग्रह जब किया गया तब उनका सग्रह कर देने पर वस्तुका अनेक धर्मपना बना और अनेक धर्मपना प्रमाणका विषय माना गया है। तो प्रमाणमे जो अनेक धर्मता आई है वह अनेक नयोका समूह बनानेपर आई है, इस लिए प्रमाण कोई स्वतंत्र ज्ञान विशेष नही है किन्तु नय ही ज्ञानविशेष हैं और उन सब नयोका समूह बना उसी को ही प्रमाण शब्दसे कह दिया जाता है। तो अनेक नयोके समूहको ही प्रमाण कहना चाहिए। प्रमाण नयोसे कोई भिन्न ज्ञान नही है। इस आशङ्काका आचार्य महाराज उत्तर देते हैं कि यह आशङ्का यद्यपि कुछ ठीक ही जच रही है, स्थूल दृष्टिसे जो समझ रहे होंगे उन्हें यह भला जच रहा है कि एक-एक अंशको नयने ग्रहण किया, ऐसे सब नय इकट्ठे मिल जायें तो अनेक अंशात्मक वस्तु जान ली जायगी। और यों फिर प्रमाण कोई भिन्न ज्ञान न रहा। सुननेमें साधारणतया यह बात ठीक लग रही है फिर भी यह ठीक नही है, क्योकि अनेक नयो के संग्रह करनेसे जो अनेक धर्मोका सग्रह होगा वह विरुद्ध धर्ममय होगा। शङ्काकारने बताया यह है कि नय एक एक अंशको जानता है और उन सबको मिला दिया जाय तो ऐसे अनेक नयोंसमूहका ही प्रमाण कहलायगा। सो यह बात यो युक्त नहीं होती

कि नय तो प्रत्येक अपनेसे विरुद्ध धर्मका प्रतिपादन न करके बल्कि उनका विरोध रख कर अपने विषयका प्रतिपादन करता है यह तो ज्ञाताका अभिप्राय है कि वह अन्य नयोकी अपेक्षा रखता हुआ प्रकृत नयका परिज्ञान करे, किन्तु नयके स्वरूपमें यह बात नहीं भरी है कि वह प्रतिपक्षी धर्मका भी आदर करता हुआ अपने धर्मका प्रतिपादन करे। नय तो एक दूसरेसे प्रतिपक्ष विरोधी धर्मोका ही विवेचन करता है। तो जहाँ विरोधी धर्मोंका विवेचन हुआ और उन विरोधी धर्मोंका समूह प्रमाणको विषय मान लिया जाय तो वह विरोध होगा। प्रमाण तो अनेक अंशोका ग्रहण विरोध रीतिसे नही करता, किन्तु परस्पर मैत्री भाव पूर्वक ही उन अंशोंको ग्रहण करता है, इस कारण प्रमाण नयसे भिन्न ही ज्ञान विशेष है। नयोका पहिले बहुत विस्तार पूर्वक विवेचन किया गया है, उस विवेचनसे यह जान लिया होगा कि प्रत्येक नय एक एक धर्मको विरोध रीतिसे ग्रहण करता है लेकिन प्रमाण तो वस्तुके सर्व अंशोको, वस्तुके सर्वस्वको अविरोध रूपसे ग्रहण करता है और नय विरुद्ध रूपसे ग्रहण करे, प्रमाण अविरुद्ध रूपसे ग्रहण करे, इसका कारण यह है कि सर्व अंशोको विषय करने वाला एक ही तो ज्ञान है जिसे प्रमाण कहते हैं। प्रमाणने वस्तुके सर्वस्वको ग्रहण किया तो वहाँ ऐसा नही है कि एक एक अंशके ज्ञान करने वाले अनेक ज्ञान हैं और उन ज्ञानो का समूह प्रमाण बन गया। वह सारा ही ज्ञान एक है जो वस्तुके सर्वस्वको जान रहा है। नयोमे जो भिन्न भिन्न अंश जाने जा रहे हैं सो विभिन्न अंशोको जानने वाले विभिन्न ज्ञान हैं। यों नयका विषय भिन्न है और प्रमाणका विषय भिन्न है। जैसे एक ज्ञान रूपको ही जानता है दूसरा ज्ञान रसको जानता है, तीसरा ज्ञान गंधको जानता है, चौथा ज्ञान स्पर्शको जानता है। अब ये चार प्रकारके ज्ञान एक दूसरेसे विरुद्ध हैं विषय भी एक दूसरेसे विरुद्ध है, परन्तु प्रमाण द्वारा जो एक वस्तुका ज्ञान होगा, अथवा रूपादिक चार प्रकारके गुणोके समुदायात्मक एक द्रव्यका जो ज्ञान होगा वह अविरुद्ध ही होगा। यही बात प्रमाण और नयके विषयमे भी घटित कर लेना चाहिए जैसे पदार्थका नित्य अंश जाना द्रव्यार्थिकनयने और पदार्थका अनित्य अंश जाना पर्यायार्थिकनयने तो यहाँ नित्य अंश और अनित्य अंश परस्पर विरुद्ध ही तो हुए। नित्यका स्वरूप और है अनित्यका और है, लेकिन पदार्थमे तो ये दोनो ही धर्म रह रहे हैं। द्रव्य तो नित्य है, पर्याय अनित्य है। तो दोनों ही मिलकर पदार्थ स्वरूपके साधक हैं। तो यहाँ प्रत्येक पक्षका जो स्वतन्त्र ज्ञान है वह दूसरे पक्षका विरोधी बन रहा है, यह प्रक्रिया तो नयोमे चलती है, परन्तु प्रमाणमे यह प्रक्रिया है कि दोनो पक्षोका जो समुदायात्मक ज्ञान है सो यद्यपि वह परस्पर-स्वरूपमे विरोधी है लेकिन अविरुद्ध रूपसे एक ही पदार्थमें दोनो ही पक्षोका एकान्तात्मक रूपसे परिज्ञान हो रहा है, यह है प्रमाणका विषय। इस तरह प्रमाण नयोसे भिन्न ज्ञान विशेष है, इसमें किसी प्रकारका सदेह न करना चाहिए।

ननु युगपदुच्यमानं नययुग्मं तद्यथास्ति नास्तीति।

अस्ति नास्तिको क्रमसे माननेपर तृतीय भङ्गके नाशके प्रसङ्गकी आशंका—अब शङ्काकार इसी विषयमे एक तीसरी आशङ्का रख रहा है। अथवा यदि यह कहा जाय कि अस्ति और नास्ति क्रमसे होते हैं यह बात तृतीय भङ्गमे कही गई है तब तो यह कहना अपने ही वचनके विनाशके लिए हो गया, यह खुद अपना ही शत्रु बन गया, क्योंकि क्रमसे अस्ति होना यह तो पहिला भङ्ग बता दिया है और नास्ति होना, यह दूसरे भङ्गमे बता दिया, और उन्ही दोनोंको क्रमसे यहाँ कह रहे तो क्रमसे पहिले और दूसरा भङ्ग कहलो, उससे ही तीसरे भङ्ग वाला काम चल गया, फिर तृतीय भङ्गकी जरूरत ही क्या रही ? अब शङ्काकार इसी सम्बन्धसे चौथी आशङ्का रख रहा है।

अथवाऽवक्तव्यमयो वक्तुमशक्यात्समं स चेद्भङ्गः।
पूर्वापरबाधायाः कुतः प्रमाणात्प्रमाणमिह सिद्ध्येत् ॥६८५॥

अवक्तव्यमय भङ्गमे प्रमाण बाधाकी आशङ्का—यदि कोई यह कहे कि अस्ति और नास्ति ये दोनो एक साथ कहे नही जा सकते, इस कारण ये अवक्तव्य भङ्ग हैं लेकिन ऐसा माननेमे फिर पूर्वापर बाधा आती है कि किस प्रमाणकी सिद्धि बनेगी ? जब एक साथ कुछ कह देना अवक्तव्य हो गया तब फिर प्रमाणकी सिद्धि करने वाला कुछ वचन ही न रहेगा। फिर कोई प्रमाण ही न रहेगा। किसी प्रमाण स्वरूपका सकेत किस तरह किया जायगा ? और लोग कैसे समझ पायेंगे कि यह कहलाता है प्रमाण। तो प्रमाणका जो विषय है समग्र अशोका एक साथ परिचय कराना, उसे तो मान लिया अवक्तव्य तब फिर प्रमाणका परिज्ञान किस विधिसे कराया जायगा ? फिर तो प्रमाणके परिचय कराये जानेका कोई उपाय ही न रहेगा क्योकि अब प्रमाण भी अवक्तव्य बन गया। प्रमाणका विषय भी अवक्तव्य कह दिया। तो जब सब कुछ अवक्तव्य है तो उसके विषयमे तो मोन रहना चाहिए, अथवा मौन ही क्या, उसका कुछ व्यवहार भी न चल सकेगा। तो अवक्तव्यपनेकी बात भी युक्त नहीं जचती है। अब शङ्काकार ५ वी आशङ्कामे अपना आशय प्रकट कर रह है।

इदमपि वस्तुमयुक्तं वक्ता नय एव न प्रमाणमिह।
मूलविनाशाय यतोऽवक्तरि किल चेदवाच्यतादोषः॥ ६८६ ॥

नयको वक्ता व प्रमाणको अवक्ता माननेपर अवाच्यताके प्रसङ्गकी आशङ्का—यह भी कहा जाना अयुक्त है कि प्रतिपादन करने वाला नय ही होता है, प्रमाण नहीं होता है। क्योकि यदि प्रमाणको अयुक्त मान लिया जाय प्रतिपादनके लिए अर्थात् प्रमाणवता नही है, ऐसा यदि स्वीकार कर लिया जाय तो इसमे मूलका

ही विनाश हो जायगा। जब प्रमाणसे प्रतिपादन कर ही नही सकते तो स्वरूपका पता कैसे होगा ? कुछ समझमे ही न आयगा। तो प्रमाणको अवक्ता मान लेनेपर अवाच्यताका दोष आयगा तो फिर प्रमाण किसी भी प्रकार समझा ही नहीं जा सकता। बोला ही नही जा सकता। प्रमाणके विषयकी बात किसीकी बुद्धिमे आ ही न सकेगी, इस कारण यह कहना भी सङ्गत नही जचता कि सातो भङ्गोमे जो प्रतिपादन किया है तो प्रतिबध हो जानेसे वह सब नय ही बन गया प्रमाण नही, किन्तु वह प्रतिपादन करने वाला नय होता है, प्रमाण नही होता। इस प्रकार उक्त चार गाथाओमे शंकाकारकी ५ आशकाओमे तृतीय चतुर्थ भङ्गोपर आक्षेप किया है। अब उसके समाधान मे कहते हैं।

नैव यतः प्रमाणं भंगध्वमादभङ्गबोधवपुः ।
भङ्गात्मको नय इति यावानिह तदंशधर्मत्वात् ॥ ६८७ ॥

उक्त शङ्काओके समाधानमे प्रमाणकी अभङ्ग ज्ञानमयताका निर्देश—शकाकारकी उपर्युक्त शकायें इस कारण समीचीन नही है कि प्रमाणसे भग ज्ञानमय माना ही नही गया है। प्रमाण अभग ज्ञानमय होता है, भङ्ग ज्ञानमय तो नय हुआ करता है। क्योकि जितने भी नय विभाग है वे सब वस्तुके आशिक धर्मको ही विषय करते है। नय कहते ही उसे है कि वस्तुके किसी अशकी ओर जो ज्ञान ले जाय वह नय कहलाता है। नयमे विवक्षा होती है, दृष्टि होती है और उस दृष्टिसे उस अशको ही ग्रहण करना है। यो अश धर्मरूप होनेसे नयभङ्ग ज्ञानमय है, किन्तु प्रमाणभङ्ग ज्ञानमय नही है। वह तो अभङ्ग ज्ञायक स्वरूप है। जब प्रमाण अभङ्ग बोधस्वरूप है तब उससे हम क्या निर्णय करें ? इस बातको अगली गाथामें कह रहे हैं।

स यथास्ति च नास्तीति च क्रमेण युगपच्चवानयोर्भङ्गः ।
अपि वाऽवक्तव्यमिदं नयो विकल्पानतिक्रमादेव ॥ ६८८ ॥

भङ्गोकी नयरूपता - ७ भङ्गोमे जो स्यात् अस्ति नास्तिका भङ्ग बताया गया है उस भङ्गका क्रमसे होना बताया या युगपत होना बताया ? दोनो ही स्थितियोमे वह भङ्ग ही है, प्रमाणरूप नही हो सकता। क्योकि इननेमे भी वस्तुका समग्र स्वरूप नही आया है, किसी अशको ही बताया है और दृष्टियोसे भी पृथक पृथक कायम किया है। एक वस्तुमे अविरुद्ध रूपसे अनेक धर्म जाने जाये, यह पद्धति नयोमे नही बनती है। इन सब भगोमे विकल्पका उल्लंघन नही है। इसी प्रकार चौथा जो अवक्तव्य रूप अश है, एक साथ दोनो धर्म नहीं कहे जा सकते, इस कारण अवक्तव्य है, ऐसा अवक्तव्यपना भी नय है किन्तु प्रमाण नही है। यहाँ भी अशरूप ज्ञान है और

विकल्पका उल्लंघन नहीं है। शंकाकारने उक्त आशंकाओंमें मुख्य आक्षेप दो भंगोंपर किया है। अस्ति नास्ति इन दोनोंको एक बारमें कहा जानेपर नय नहीं किंतु प्रमाण होना चाहिए। क्रमसे कहा जाय तो अलग अलग दो भङ्ग पहिले बनाये ही गए हैं। एक साथ कहा जाय तो वह प्रमाण बन जायगा। इस तरह तृतीय भङ्गपर आक्षेप किया था। सो उस सम्बन्धमें बात यह है कि स्याद् अस्ति, स्याद् नास्ति ये दोनों यदि क्रमसे कहे जाते हैं तो पहिले और दूसरे भङ्गमें इनका प्रवेश होगा। यदि इन दोनोंको क्रमसे और एक साथ प्रयोग किया जाता तो तीसरा भङ्ग होता जिसका नाम है—स्याद् अस्ति नास्ति। यदि इन दोनोंका अक्रमसे एक साथ प्रयोग किया जाता है तो अवक्तव्य नामका चौथा भङ्ग बनता है। तो ये सब नयके भेद हैं, क्योंकि वे सब अंशात्मक हैं, ये भङ्ग प्रमाणरूप नहीं कहे जा सकते ये वस्तुके सर्वस्वके ग्राहक नहीं हैं, इसी बातको अगली गाथामें स्पष्ट कर रहे हैं।

तत्रास्ति च नास्ति सम भंगस्यास्यैकधर्मता नियमात्।
न पुनः प्रमाणमिव किल विरुद्धधर्मद्वयाधिरूढत्वम्॥ ६८६॥

अस्तिनास्तिरूप तृतीय भङ्गकी नयात्मकताकी युक्तिपूर्वक सिद्धि—उन भङ्गोंमें जो स्याद अस्ति नास्ति भङ्ग बनाये गए हैं तो ये जब एक साथ बोले हुए होते हैं तो ये एक ही धर्म वाले भङ्ग हैं, उसे प्रमाणके समान नहीं कहा जा सकता, क्योंकि धर्मोंके समावेशकी पद्धति नय और प्रमाणमें भिन्न भिन्न है। प्रमाण एक ही समयमें दो विरोधी धर्मोंका मैत्री भावसे प्रतिपादन करता है। तो जिस तरह प्रमाण विरोधी अनेक धर्मोंको एक वस्तुमें एक साथ प्रतिपादन करता है उस तरह कोई सा भी भङ्ग विरोधी धर्मका एक वस्तुमें प्रतिपादन नहीं करता, क्योंकि नयोंकी दृष्टिमें अन्यको अवकाश नहीं दिया गया है। यह तो ज्ञाता के अभिप्राय की बात है कि वह किसी भी नयका प्रयोग करके शेष नयोंकी अपेक्षा रखता है। तो प्रमाणने एक ही समयमें दो विरोधी धर्मोंका मैत्रीभावसे प्रतिपादन किया है, परन्तु स्याद अस्ति नास्ति कहकर भी इस भङ्गमें दो विरोधी धर्मोंका मैत्रीभावसे प्रतिपादन नहीं है, किंतु पहिले और दूसरे इन दो विरोधी धर्मोंका अविरोधपना है। उस भङ्गमें भी दो विरोधी धर्म रूपसे वे समझे जा रहे हैं, अतएव ऐसे भङ्ग ज्ञानांशरूप ही हैं।

अयमर्थश्चार्थ शादथ च विवक्षावशात्तदंशत्वम्।
युगपदिदं कथ्यमानं क्रमाज्ज्ञेयं तथापि तत्स यथा॥६९०॥

विवक्षावश कथित वचनकी नयरूपताका निर्णय—उक्त गाथाओंमें जो आशङ्काओंका समाधान दिया गया है उसका आशय यह है कि किसी प्रयोजनसे या

विवक्षासे एक साथ और क्रमसे कहते हुए जो भी भङ्ग है वे सब अंशरूप है इस कारण वे सब नय हैं। ७ भङ्गोमे जिस किसी भी भङ्गका प्रतिपादन है वह किसी विवक्षासे है, सर्वरूपसे नही है। तो जहाँ विवक्षासे प्रतिपादन है तो वहाँ एक ही अंशका प्रतिपादन है अस्ति नास्ति दोनोंको एक साथ कहनेपर भी चूंकि वहाँ भी विवक्षा भेद पडा हुआ है और विवक्षा भेद वाली बात एक साथ कहनेमे अशक्य है इस कारण एक अवक्तव्य भङ्ग बन गया है। सो वह भङ्ग भी नय ही है। वस्तु सर्वथा अवक्तव्य नहीं है और अवक्तव्य नयकी विवक्षा जो भिन्न–भिन्न दो है उनका समावेश किया है। कहीं मैत्री भावसे विरोधी धर्मोंका एक वस्तुके बतानेका आशय उस भङ्गमे नही है, इस कारण जैसे स्याद नास्ति एक भङ्ग है और नयरूप है उसी प्रकार स्याद नास्ति एक भङ्ग है और नयरूप है। इस ही तरह स्याद अस्ति नास्ति ये जो क्रमशः कथन हैं वे भी भङ्गरूप है और अवक्तव्य है, ऐसा कथन भी भङ्गरूप है, यह प्रमाण नही कहा जा सकता।

अस्तित्स्वरूपसिद्धेर्नास्ति च पररूपसिद्ध्यभावाच्च।
अपरस्योभयरूपादितरनतः कथितमस्ति नास्तीति ॥ ६६१ ॥

सप्तभङ्गीके प्रथम तीन भङ्गोका सयुक्ति प्रतिपादन – इन सब भङ्गोकी मुख्यतया जाँच कीजिए। वस्तुमे निजरूपकी अपेक्षासे, स्वरूपसिद्धिकी दृष्टिसे स्याद अस्ति है यह प्रथम भङ्ग बनता है और उस वस्तुमे पररूप सिद्धिका अभाव है अर्थात् पररूपकी अपेक्षासे स्याद नास्ति, यह दूसरा भङ्ग बनता है। तथा स्वरूपकी अपेक्षासे अस्तित्व पररूपकी अपेक्षासे नास्तित्व, ऐसा तृतीय भङ्ग बताया गया है। तो वहाँ विरोधी दो विवक्षाओका आशय ग्रहण किया गया है। यो उभयरूपकी विवक्षासे अस्ति नास्तिरूप तीसरा भङ्ग बताया गया है। तो इन तीनोमे अपेक्षा भिन्न–भिन्न है। पहिले भङ्गमे स्वरूपकी अपेक्षा है, दूसरे भङ्गमे पररूपकी अपेक्षा है, तीसरे भगमे स्वपररूपकी अपेक्षा है। इस तरह जब इन दो भङ्गोमे अपेक्षा भिन्न–भिन्न है तो इसे भङ्ग ही कहा जायगा। प्रमाणका स्वरूप तो इन भङ्गोसे जुदा ही है। अब इसी बात को अगली गाथामे बता रहे हैं। प्रमाणका स्वरूप इन भङ्गोसे जुदा किस तरह है ?

उक्तं प्रमाणदर्शनमस्ति स योयं हि नास्तिमानर्थः।
भवतीदमुदाहरणं न कथञ्चिद्वै प्रमाणतोऽन्यत्र ॥६६२॥

नयोसे विलक्षण प्रमाणका दर्शन—प्रमाणका स्वरूप नयोसे जुदा ही है और वह इस प्रकार है जैसा कि इस उदाहरणमे स्पष्ट प्रतीत हो जायगा। उसका उदाहरण है कि जो पदार्थ अस्तिरूप से वही पदार्थ नास्ति रूप है। तृतीय भङ्गमे स्व-

रूपसे अस्तित्व पररूपमे नास्तित्व रूपमे कहा गया है, किन्तु प्रमाणमे दोनो ही धर्मो का कथन एक ही समयमे प्रत्यभिज्ञानकी पद्धतिमे कहा जाता है। अस्तिरूप भङ्गमे एक दृष्टि थी नास्तिरूप भङ्गमे दूसरी भिन्न दृष्टि थी, किन्तु जहाँ यह ज्ञात हो कि यही पदार्थ अस्तिरूप है वही तो नास्तिरूप है। तो प्रमाणमे दोनो धर्मोका प्रतिपादन एक साथ प्रत्यभिज्ञानकी पद्धतिसे हो गया है। जो अस्तिरूप है वही नास्तिरूप है यह बात प्रमाणमे ही घटित होती है। प्रमाणको छोडकर किसी भी नयमे घटित नहीं हो सकती। नय भी विवेचन नही कर सकता। तो जब नयोने अपना प्रयोजन और विवक्षा भिन्न ही रखा तो नय प्रमाणके स्वरूपमे जुदा ही है दो नयोका प्रयोग भी नय ही है किन्तु प्रमाण नही है।

तदभिज्ञानं हि यथा वक्तुमशक्यात् तर्मनयस्य यतः ।
अपि तुर्यो नयभङ्गस्तत्त्वावक्तव्यतां श्रितस्तस्मात् ॥६६३॥

अवक्तव्य भंगकी नयरूपता—इस गाथामे यह बताया गया है कि सप्त-भङ्गीमे जो चौथा अवक्तव्य नामका भङ्ग है वह भी अंशात्मक है। नय एक समय दो धर्मोका प्रतिपादन नही कर सकता है, इस कारण जब दो धर्मोके एक साथ कहने की विवक्षा होती है उस समय अवक्तव्य नामका चौथा भङ्ग निष्पन्न होता है। द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक इन दोनो दृष्टियोसे जो भिन्न-भिन्न धर्म जाने गए हैं उनको एक साथ कहनेकी जब इच्छा हो जाती है तो वहा परस्पर विरुद्ध धर्मोको कहनेका तो प्रयास किया जा रहा है दृष्टियां भी भिन्न-भिन्न रूपमे दो ही लगाई जा रही हैं और एक साथ कहनेका प्रयास है, ऐसी दृष्टिमे वहाँ अवक्तव्यता बनती है। अवक्तव्य उसे कहते हैं जो कहा न जा सके। एक समयमे एक ही धर्मका विवेचन होगा अनेकका नही। अवक्तव्य है ऐसा कहकर अवक्तव्यका रूप एक अंशका ही ग्रहण किया गया है इस कारण अवक्तव्य नामका चौथा भङ्ग भी नय है, प्रमाण इससे भिन्न स्वरूप वाला है। प्रमाणकी मुख्य विशेषता यह है कि वह एक वस्तु उन विरोधी अनेक धर्मोका अविरोध रूपसे ग्रहण कर लेता है अथवा वस्तुके भिन्न-भिन्न धर्मोका विकल्प न करके उन समग्र वस्तुको ग्रहण कर लेता है सो ऐसा प्रमाण नयोसे भिन्न ही है।

न पुनर्वक्तुमशक्यं युगपद्धर्मद्वयं प्रमाणस्य ।
क्रमवर्ती केवलमिह नयः प्रमाणं न तद्वदिह यस्मात् ॥६६४॥

सब धर्मोका समकाल प्रतिपादक होनेसे प्रमाणकी उक्त भङ्गोसे विलक्षणता—नयमे ही यह प्रतिबंध है कि वह दो या अधिक धर्मोका प्रतिपादन एक साथ नहीं कर सकता है परन्तु प्रमाणके विषयभूत अनेक धर्म एकसाथ कहे जा सकते

है। नयके समान यह बात न बनेगी कि अनेक धर्मोका प्रतिपादन प्रमाण न कर सके, क्रमवर्ती तो केवल नय ही हुआ करता है। अर्थात् नय क्रमसे जानेगा। जिस नयका जो विषय है वह उस विषयको जानेगा, फिर दूसरी दृष्टि विवक्षा करके दूसरे अशके ज्ञानका प्रारम्भ हो तो वह उसके बाद जानेगा, तो नयोमे क्रमवर्तीपना है, पर प्रमाण मे क्रमवर्तीपना नही है अर्थात् प्रमाण एक साथ वस्तुके सर्वस्वको जान लेता है। ७ भङ्गोमे सभी भग अपने-अपने एक-एक विषयका प्रतिपादन करते हैं। उन भङ्गो के समान प्रमाण नही है और जिसमे यह शङ्का रखी जा सके प्रमाणका स्वरूप नयोसे कुछ जुदा नही मालूम होता, प्रथम भङ्गमे स्याद अस्तिका निरूपण है, वह एक अशका ही बोध है। प्रमाण स्यात् अस्ति एव इतने ही अशका ग्रहण नही करता किन्तु सर्वस्व ग्रहण करता है, इस ही तरह नास्ति अथवा अस्ति नास्ति आदिक धर्मो की भाँति एक अशको प्रमाण ग्रहण नही करता, याने यह क्रमसे दो धर्मोका प्रतिपादन करने वाले तीसरे भङ्गकी तरह नही है। अथवा केवल अवक्तव्यताके अशको ही प्रकट करने वाला प्रमाण नही है किन्तु वह तो अनेक धर्मोका एक कालमे ही प्रतिपादन करता है, इस कारण यह निर्णय रखना चाहिए कि प्रमाण अनेक नयोके योगमे भी जुदी चीज है। शङ्काकारका आशय यह था कि केवल एक नय तो नय कहलाया, पर अनेक नयोका जहाँ योग कर दिया जाय तो वह प्रमाण हो जायगा। तो नयोका योग ही प्रमाण कहलाया। प्रमाण कुछ अलग चीज नही है, सो इस शङ्काका यहा तक निराकरण कर दिया गया कि अनेक नयोके योग भी प्रमाणसे जुदे है, वे प्रमाण नही हो सकते।

यत्किल पुनः प्रमाणं वक्तुमलं वस्तुजातमिह यावत्।
सदसदनेकैकमथो नित्यानित्यादिकं च युगपदिति ॥६६५॥

प्रमाणकी वस्तुमात्रके प्रतिपादनकी तथा अनेक धर्मोके युगपत् प्रतिपादनकी क्षमता - प्रमाणके प्रसगमे शङ्का समाधान पूर्वक जो कुछ विवरण किया गया है उस सब विवरणके पश्चात् अब फलित निर्णयकी बात इस गाथामे कह रहे हैं। जो प्रमाण होता है वह निश्चयसे वस्तु मात्रका प्रतिपादन करनेमे समर्थ है अर्थात् वह वस्तुके सर्वस्वका परिचय करने वाला है। अथवा उसे इसरूपमे भी समझ सकते हैं कि प्रमाण सत् असत्, एक अनेक नित्य अनित्य आदिक अनेक धर्मोका एक साथ प्रतिपादन करनेमे समर्थ है। प्रमाणकी इस पद्धतिके लक्षणमे इस बातपर मुख्यतया ध्यान रखना चाहिए कि प्रमाण एक वस्तुमे अविरुद्ध रूपसे परस्पर विरुद्ध अनेक धर्मोको ग्रहण करता है। कैसी प्रमाणकी अद्भुत महिमा है कि जो धर्म अपने अपने स्वरूपके कारण एक दूसरेसे भिन्न है, विरुद्ध है प्रतिपक्ष है फिर भी वे सब ही वस्तुमे रहते हैं और अविरोध रूपसे रहते है अर्थात् एक धर्म दूसरेको हटाकर नही रह रहा, किन्तु

सब एक साथ रह रहे हैं इसी तरहका प्रकाश प्रमाण देता है। तो प्रमाण ज्ञान वस्तु के सर्वस्वको ग्रहण कराता है, नय वस्तुके सर्वस्वको ग्रहण नही कराता है और, कदाचित् अनेक नयोका योग भी करदे तो भी वहाँ यह विशेषता नही आती कि अविरोध रूपसे उन सबका समावेश होता हो। कितने ही नयोका योग कर दिया जाय फिर भी नय जो परस्पर विरुद्ध धर्मका ज्ञान कर रहा था तो योग होनेपर भी विरुद्ध धर्म ही उनका विषय रहता है। तो यो नयोसे प्रमाणका स्वरूप भिन्न है। प्रमाण वस्तुके सर्वस्वको ग्रहण करने वाला है और नय वस्तुके अशको ही ग्रहण करता है।

अथ तद्द्विधा प्रमाणं ज्ञानं प्रत्यक्षमथ परोक्षञ्च ।
असहायं प्रत्यक्षं भवति परोक्षं सहायसापेक्षम् ॥६९६॥

प्रमाणके भेद—प्रमाणके स्वरूपपर पर्याप्त प्रकाश डालनेके बाद अब प्रमाण के भेदका वर्णन चल रहा है। प्रमाण दो प्रकारके होते हैं प्रमाणका अर्थ यहाँ ज्ञान लेना है और सर्वत्र ज्ञान ही प्रमाण होता है तो उस प्रमाणरूप ज्ञानके यहाँ भेद किए जा रहे हैं। यद्यपि नय भी एक ज्ञान है, किन्तु नयरूप ज्ञानकी चर्चा पहिले की जा चुकी है। अब यहाँ प्रमाण रूप ज्ञानके भेद बताये जा रहे हैं। प्रमाण सदा ज्ञान रूप होता है, अज्ञान रूप नही होता, इस बातकी कुछ चर्चा इसी ग्रन्थमे कुछ आगे की गई है। विस्तार पूर्वक यह मर्म वहाँसे जान लिया जायगा, पर सक्षेपमे यहाँ यह समझना है कि जहा भी लोग प्रमाणका व्यवहार करते हैं वहाँ ज्ञानसे ही उसका भाव हो जाता है। यदि कोई कभी लिखित दस्तावेज सामने रखदे कि देखो! यह प्रमाण है, तो कही कागज और स्याही प्रमाण नही कहलाये, किन्तु उस सबको पढकर जो भाव भासना हुई है, जो ज्ञान बना है वह ज्ञान प्रमाण है। तो इस प्रकार प्रमाण ज्ञानरूप ही होता है। उस प्रमाण रूप ज्ञानके यहाँ भेद बताये जा रहे हैं। प्रमाण ज्ञानके दो भेद हैं प्रत्यक्ष और परोक्ष। जो ज्ञान असहाय होता है वह प्रत्यक्ष कहलाता है और जो ज्ञान सहाय सापेक्ष होता है वह परोक्ष कहलाता है असहायका अर्थ स्वसहाय अर्थात् किसी दूसरेकी सहायताकी अपेक्षा नहीं करता। आत्म शक्तिसे ही जो ज्ञान प्रकट हो जाता है, जिसकी निस्पत्तिमे इन्द्रिय, मन, प्रकाश आदिककी सहायता नही ली जानी पडती है वह प्रत्यक्ष ज्ञान कहलाता है और जो ज्ञान इद्रिय आदिककी सहायतासे होता है उसे परोक्षज्ञान कहते हैं। तो ज्ञान ऐसे नाना प्रकारके होते हैं, क्योकि विषय भी नाना हैं, पद्धतियाँ नाना हैं। उन सब ज्ञानोको संक्षिप्त प्रकारमे बांटा जाय तो या तो वह प्रत्यक्ष होगा अथवा परोक्ष होगा।

प्रत्यक्षं द्विविधं तत्सकल प्रत्यक्षमक्षमं ज्ञानम् ।
क्षायोपशमिकमपर देशप्रत्यक्षमक्षय क्षयि च ॥६९७॥

प्रत्यक्ष प्रमाणके भेद—अब इस गाथामे प्रत्यक्ष प्रमाणके प्रकार बताये जा रहे हैं। प्रत्यक्ष प्रमाण दो प्रकारका होता है एक सकल प्रत्यक्ष और दूसरा विकल प्रत्यक्ष। सकल प्रत्यक्ष तो अविनाशी ज्ञान है और विकल प्रत्यक्ष क्षायोपशमिक है। कर्मोंके क्षयसे उत्पन्न नही होता, तथा विनाशीक है। सकल प्रत्यक्ष ज्ञानावरणका क्षय होनेसे प्रकट होता है और प्रकट होनेसे सकल प्रत्यक्षज्ञान मिटकर अन्य किसी प्रकार का ज्ञान बन जाय, देश प्रत्यक्ष हो जाय अथवा परोक्ष हो जाय ऐसा तीन कालमे भी सम्भव नही, अर्थात् ऐसा न किन्ही केवल ज्ञानियोके हुआ है न कभी होगा। परिणतिया पदार्थमे प्रति समय नवीन नवीन होती हैं, ऐसा पदार्थका स्वभाव ही है कि वह प्रति समय परिणमनशील रहा करता है और इस वास्तविकताके कारण सकल प्रत्यक्ष ज्ञानी अरहत और सिद्ध देव निरन्तर केवलज्ञान रूपसे परिणमन करते रहते हैं। सूक्ष्म दृष्टिसे वह प्रतिसमयका केवल ज्ञान पर्याय न्यारा है, अपूर्व अपूर्व है। फिर भी विषय वही है, पद्धति वही है, स्वरूप वही है, इस कारण उन्हे अविनाशी कहा गया है। केवलज्ञान होनेके बाद फिर केवलज्ञान कभी भी नष्ट न हो सकेगा, इस कारण सकल प्रत्यक्ष अक्षयज्ञान है और विकल प्रत्यक्ष क्षायोपशमिक ज्ञानमे उत्पन्न होता है, नयसे नही होता, इस कारण वह विनाशीक है, नियमसे वह मिट जायगा। किसीके केवलज्ञान होनेपर मिटता है तो किसीके पतन अवस्थाके लिए मिट जाता है।

अयमर्थो यज्ज्ञान समस्तकर्मक्षयोद्भवं साक्षात्।
प्रत्यक्ष क्षायिकमिदमक्षातीत सुख तदक्षमिकम् ॥ ६९८ ॥

सकल प्रत्यक्ष स्वरूप ही प्रमाणका स्वरूप है—सकल प्रत्यक्ष ज्ञानकी विशेषता जाननेके लिए इस गाथामे सकल प्रत्यक्षका स्वरूप बताया गया है। सकल प्रत्यक्ष ज्ञान समस्त ज्ञानावरण कर्मके क्षयसे उत्पन्न होता है। और वह साक्षात् आत्मसापेक्ष होता है। किसी निमित्त आदिक पर पदार्थके योग बिना किसी एक आत्मसामर्थ्यसे सहज ही सर्वविश्व ज्ञानमे झलकता है। इससे वह आत्म मात्र सापेक्ष कहलाता है। ऐसा यह सकल प्रत्यक्ष ज्ञान क्षायिक है। ज्ञानावरण कर्मके क्षयसे उत्पन्न होता है और इन्द्रियातीत है। किसी भी इन्द्रिय की सहायतासे अथवा अपेक्षासे प्रकट नही होता और न इस ज्ञानमे इंद्रियके विषयरूप से विषय प्रतिबिम्बित होता है, किन्तु समग्र वस्तु बिना विकल्पके स्पष्ट प्रतिबिम्बित होता है किन्तु समग्र वस्तु बिना विकल्पके स्पष्ट प्रतिबिम्बित हो जाता है। यह सकल प्रत्यक्ष ज्ञान आत्मीय सुख स्वरूप है। यह स्वय आनन्दमय है। जहाँ कोई रागद्वेष नही है और किसी भी प्रकारका ज्ञानावरण नही है। जितने भी सत् हैं लोकमे वे समस्त अनन्तानन्त सत् सहज ही जहा ज्ञानमे प्रतिभासित होते हैं ऐसा ज्ञान आनन्दमय ही

रहता है, वहाँ आकुलताका कोई अवकाश नहीं है। इस कारण यह सकल प्रत्यक्षज्ञान आत्मसुख स्वरूप है, विशुद्ध आनन्दमय है और यह सकल प्रत्यक्षज्ञान अविनश्वर है। आत्माका स्वभाव ज्ञान है और ज्ञानस्वभावके कारण यह विशुद्ध आत्मा निरन्तर जानता रहता है, जाननेका इसका स्वभाव है। अब यह पूर्ण निरावरण है, इसको किसी परकी अपेक्षा अब नहीं रही। आवरण सहित स्थितिमें ज्ञानके इन्द्रियादिककी अपेक्षा हो जाती थी। अब निरावरण दशामें इन्द्रिय और मनकी भी अपेक्षा नहीं रहता, फिर ज्ञान ऐसे किस तरह नष्ट हो सकेगा ? इस कारण यह सकल प्रत्यक्ष ज्ञान आत्मीय आनन्दस्वरूप है और अविनाशी है।

देशप्रत्यक्षमिहाप्यवधिमनः पर्ययं च यज्ज्ञानम्।
देशं नोइन्द्रियमन उत्थात् प्रत्यक्षमितरनिरपेक्षात् ॥ ६९९ ॥

देश प्रत्यक्ष प्रमाकाण स्वरूप— प्रमाणके दो भेद बताये गए हैं—एक प्रत्यक्ष और दूसरा परोक्ष। और, परोक्षके भी दो भेद कहे गए हैं। १ देश प्रत्यक्ष और २ सकल प्रत्यक्ष। जिनमेंसे सकल प्रत्यक्षका स्वरूप कह दिया गया है। अब इस गाथामें देश प्रत्यक्षका स्वरूप कह रहे हैं। देश प्रत्यक्ष अवधिज्ञान और मन पर्ययज्ञान ये दो ज्ञान कहलाते हैं। एक देश स्पष्टतया जानते हैं इस कारण इसे देश प्रत्यक्ष कहते हैं। इन दोनों ज्ञानोका विषय मर्यादित है अल्प है तो अपने मर्यादित विषयको जानता है इस कारण यह देशज्ञान करने वाला है और जानता है इन्द्रियमनकी सहायताके विना इस कारण यह प्रत्यक्ष कहलाता है। यही बात गाथाकारके इन शब्दोंसे ध्वनित होती है इस पद्धतिमें कि ये दोनो ज्ञान नोइन्द्रिय अथवा मनसे उत्पन्न होते हैं, इस कारण देश कहलाता है और अन्य इन्द्रियकी अपेक्षा नहीं रखता है इस कारण प्रत्यक्ष कहलाता है। यहा यह बात कितनी अपूर्व कही है कि अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान भी मनसे उत्पन्न होता है। सिद्धान्तोमें प्राय. इस तरह वर्णन आता है कि अवधिज्ञान और मन पर्यय ज्ञान इन्द्रिय और मनसे उत्पन्न नहीं होते, लेकिन यहाँ बताया गया है मनसे तो उत्पन्न होते। पर इन्द्रियसे नहीं यदि सूक्ष्म दृष्टिसे विचार किया जाय तो अवधिज्ञानके सम्बधमें यहभी वर्णन आया है कि अवधिसे ज्ञानके शरीर मे भीतर हृदय नाभि, मस्तक आदिक साधनोसे कोई चिन्ह विशेष प्रकट होते हैं जिनके आश्रयसे अवधिज्ञानकी निस्पत्ति होती है तो वह चिन्ह इन्द्रिय नहीं कहलाता। यह तो अन्तरगकी साधना है तब इसे अन्त करण अथवा नोइन्द्रिय भी किसी प्रकार कह सकते हैं क्योकि मनको अव्यवस्थित बताया है। चलित भी कहा गया है। दूसरी बात यह है कि अवधिज्ञानका जो उपयोग करता वह पहिले मनसे इस प्रकारकी प्रेरणा लेता है कि यह समझूं किस तरह है। जो किसीने पूछा एक मनसे पहिले चिन्तन करता है अथवा अपने आप ही मनसे उसका विचार करता है, पश्चात् ऐसी

उपयोगपद्धतिमे चल देता है कि वहाँ अवधि दर्शनपूर्वक अवधि ज्ञान हो जाता है। तो चू कि अवधिज्ञानकी निष्पत्तिसे पहिले मनकी प्रेरणा मिली, अत परम्परासे यह कहा जा सकता है कि मनसे सम्बन्ध रहनेके कारण अवधिज्ञान् देश है प्रत्यक्ष है, मन पर्यय ज्ञानक सम्बन्धमे यह तो बताया ही गया है कि दूसरेके मनमे तिष्ठे हुए पदार्थका ज्ञान करना तो दूसरेके मनमे नही होता। स्वतन्त्रतया कुछ भी पदार्थको मन पर्यय ज्ञानी जाने सो इसका विषय नही है। दूसरेके मनमे तिष्ठे हुए विकल्पको यह मन पर्ययज्ञानी जानता है। तो उस विषयके परिज्ञानमे मनका सम्बन्ध तो रहा ही अथवा सिद्धान्त शास्त्रमे यह भी बताया गया है कि ऋजुमती मन पर्ययज्ञान इद्रिय नोइंद्रियकी सहायतासे होता है परन्तु विपुलमती मन पर्यय और अवधिज्ञान ये दोनो ही इन्द्रिय और मनकी सहायतासे नही होते है। इस सम्बन्धमे गोमटसारमे यह गाथा भी आई है—

"इंदियणोइंदियजोगादिं पेक्खित्तु उजुमदी होदि।
णिरवेक्खिय विउलमदी ओहिं वा होदि णियमेण।"

इस गाथासे यह सिद्ध होता है कि ऋजुमती मन पर्ययज्ञान ईहा मतिज्ञानपूर्वक होता है, इस तरहसे मन पर्ययज्ञानका इद्रिय मन सापेक्ष समझा गया है और इस गाथा मे उस इद्रियकी सापेक्षता नही कही गई है। केवल मनकी सापेक्षता कही गई है। तो यह बाह्य अपेक्षासे समझना चाहिए अथवा जैसे शरीरमे अन्य अनेक स्थानोपर कुछ चिन्ह विशेष प्रकट होते हैं उनके आलम्बनसे अवधिज्ञान निस्पन्न-होता है सो इस तरह सापेक्षता समझना चाहिये। तात्पर्य यह है कि केवलज्ञानकी तरह कुछ भी अपेक्षा न रखे और अवधि मन पर्यय हो जाय, ऐसा नही है।

आभिनिबोधिकबोधो विषयविषयिसन्निकर्षजस्तस्मात्।
भवति परोक्षं नियमादपि च मतिपुरस्सरं श्रुत ज्ञानम्। ७००।

आभिनिबोधिक व श्रुत इन दोनो परोक्ष ज्ञानोंका स्वरूप - इस गाथा मे परोक्षज्ञानका स्वरूप कहा गया है। परोक्षज्ञान दो होते हैं मतिज्ञान और श्रुतज्ञान मतिज्ञानका दूसरा नाम है आभिनिबोधित ज्ञान। आभिनिबोधित शब्दमे तीन शब्द आये हुए है आभि नि और बोध जिनका अर्थ होता है कि अभिमुख और नियमित पदार्थोंका बोध करना आभिनिबोधित ज्ञान है। मतिज्ञान अभिमुख और नियमित पदार्थका बोध करता है और वह है विषय और इन्द्रियके सम्बन्धसे होने वाला। इस कारण मतिज्ञान परोक्ष ज्ञान ही है। अभिमुख उसे कहते है जो स्थूल वर्तमान योग्य क्षेत्रमें ठहरे हुए पदार्थ हैं। जैसे नेत्र द्वारा रूप रंगको जानते है तो वह सामने हो जिसे चक्षु देखते है, यह अभिमुखता हुई और नियत उसे कहते हैं कि जो विषय जिस

इन्द्रियका विषय हो वही कहलाता है नियमित पदार्थ। इन्द्रिय द्वारा जो ज्ञान होता है वह स्थूल और योग्य क्षेत्रमें ठहरे हुए वर्तमानका बोध होता है, सूक्ष्मका नहीं, भूत भविष्यका नहीं। अयोग्य क्षेत्रमें ठहरे हुएका नहीं अर्थात् जितने निकट या जितनी दूर जिसके जिस ओर ठहरे हुए पदार्थका बोध मतिज्ञान द्वारा होता है उसका ही बोध मतिज्ञान द्वारा होता है उसका ही बोध किया जा सकता है। यह तो हुआ अभिमुखका भावार्थ, नियमितका भावार्थ है कि प्रत्येक इन्द्रियका विषय नियत है। जैसे स्पर्शन इन्द्रियके द्वारा स्पर्शको ही जाना जा सकता है चिकना रूखा, ठण्डा गर्म आदिक स्पर्श ही छूकर समझा जाता है। रसना इन्द्रियके द्वारा रस ही जाना जा सकता है। खट्टा, मीठा, तीखा, रसायला आदिक रस ही समझा जा सकता है। तो रसनाका नियत विषय है रस, घ्राण इन्द्रियका नियत विषय है गंध घ्राण इन्द्रिय द्वारा सुगन्ध अथवा दुर्गन्धका बोध किया जाता है। चक्षु इन्द्रियके द्वारा रूप ही जाना जाता है। काला, पीला आदिक रूप चक्षुइन्द्रियसे समझा जा सकता है और शब्दका ज्ञान कर्णेन्द्रियसे ही होता है। यो इन्द्रियका विषय नियत है यो अभिमुख नियमित पदार्थको जो जानता है, जिस साधनसे इन पदार्थोंका परिज्ञान होता है वह सब आभिनिबोधिक ज्ञान कहलाता है। श्रुतज्ञान आभिनिबोधित ज्ञान पूर्वक होता है इस कारणसे वह भी परोक्षज्ञान है। यो मतिज्ञान व श्रुतज्ञान ये दो ज्ञान परोक्षज्ञान कहलाते हैं।

छद्मस्थावस्थायामावरणेन्द्रियसहायसापेक्षम्।
यावज्ज्ञानचतुष्टयमर्थात् सर्वं परोक्षमिववाच्यम् ॥७०१॥

चारो ज्ञानोका परोक्षवत् निर्णय—ज्ञान ५ प्रकारके बताये गए हैं और उनका वर्गीकरण इस प्रकार किया गया है कि मतिज्ञान, श्रुतज्ञान तो है परोक्षज्ञान अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान देश प्रत्यक्ष और केवलज्ञान है सकल प्रत्यक्ष परन्तु सूक्ष्म और विशुद्ध दृष्टिसे विचारा जाय तो छद्मस्थ अवस्थामे जितना भी ज्ञान हो सकता है वह सब परोक्षज्ञानकी ही तरह है। मतिज्ञान व श्रुतज्ञान तो परोक्षज्ञान हैं ही। अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान भी आवरणकी अपेक्षा रखते हैं। अवधिज्ञानावरण और मनःपर्यय ज्ञानावरणके क्षयोपशमके साथ हुआ करता है। तथा मतिश्रुत तो इन्द्रियकी और मनकी सहायता लेता है और अवधिज्ञान मनःपर्यय ज्ञानमे भी परम्परासे या किन्ह विशेषसे किसी भी रूपमे मनकी अपेक्षासे आ जाती है। इस तरहसे चारो ही ज्ञान परोक्षज्ञानके समान ही समझना चाहिए, इस विषयमे विशुद्ध दृष्टिसे विचार करनेपर इतना तो विदित हो ही जाता कि जो बिल्कुल स्वसहाय हो जहाँ किसी भी प्रकारके परका आश्रय न हो, अथवा कोई बाह्य साधन न लने, वह ही ज्ञान वास्तवमे प्रत्यक्ष कहलाता है और ऐसी स्पष्ट प्रत्यक्षता केवलज्ञानमे प्रतीत होती है। उससे निवल होनेके कारण चारो ही ज्ञान वस्तुत परोक्षज्ञानकी तरह

ही कहना चाहिए।

अवधिमनःपर्ययविद्द्वैतं प्रत्यक्षमेकदेशत्वात् ।
केवलमिदमुपचारादथ च विवक्षावशान्न चान्वर्थात् ॥७०२॥

अवधिज्ञान व मन.पर्ययज्ञानकी उपचारसे प्रत्यक्षता—अवधिज्ञान और मन पर्ययज्ञान ये दो ज्ञान एक देश प्रत्यक्ष माने गए हैं। सो यहाँ सूक्ष्म दृष्टिसे विचार किया जाय तो इसमे जो प्रत्यक्षता बतायी गई है वह विवक्षावश केवल उपचारसे घटित होती है, अथवा परमार्थत इसे प्रत्यक्ष नही कहा जा सकता। यद्यपि मतिश्रुत ज्ञानकी अपेक्षा इसमे अधिकाधिक स्पष्टता है क्योकि यह इन्द्रिय प्रत्यक्षसे नही जाना जाता, किन्तु आत्मशक्तिसे जाना जाता है। भले ही इसमे परम्परा मनकी अपेक्षा हुई है पर जब यह ज्ञान अपने कालमे अपना काम करता है उस समय मनकी अपेक्षा नही रहती, इस कारण मति श्रुत ज्ञानकी अपेक्षा इसमे स्पष्टता विशेष है, फिर भी अवधिज्ञान और मन. पर्ययज्ञान इन दोनोमे बहुत सी पराधीनताए है जैसे तद्‌विषयक ज्ञानावरणका क्षयोपशम होना मनसे पूर्वकालमे चिन्तन बना दूसरेके मनका आधार से विषयको जानना, अपने ही शरीरमे जो अत शखादिकके आकार चिन्ह प्रकट होते है उन चिन्होके माध्यमसे जानना ऐसी कुछ बाते अवधिज्ञानसे होती हैं। कुछ मन पर्ययज्ञानसे होती है, इनकी अपेक्षाके कारण इन्हे परमार्थत प्रत्यक्ष नही कहा जा सकता।

तत्रोपचारहेतुर्यथा मतिज्ञानमक्षजं नियमात् ।
अथ तत्पूर्वं श्रुतमपि न तथाऽवधि चित्तपर्ययं ज्ञानम् ॥७०३॥

अवधिज्ञान व मन पर्ययज्ञानकी उपचारसे प्रत्यक्षताके कथनका कारण यहाँ कोई जिज्ञासु ऐसी आशङ्का कर सकता है कि जब अवधिज्ञान और मन पर्यय ज्ञानमे बहुत सी अपेक्षायें अब भी लगी हुई है तब इन्हे उपचारसे भी प्रत्यक्ष कहनेकी आवश्यकता क्यो हुई है? उसका समाधान इस गाथामे दिया गया है। अवधिज्ञान मन पर्ययज्ञान उपचारसे प्रत्यक्ष माने गए है, तो इस उपचारका कारण यह है कि जिस तरह मतिज्ञान नियमसे इन्द्रियजन्य ही ज्ञान है और श्रुतज्ञान भी चूकि मतिज्ञान पूर्वक ही होता अतएव वह भी इन्द्रियजन्य ज्ञान है। तो जैसे मतिश्रुत इंद्रियज्ञान हैं उसी प्रकार अवधि और मन पर्ययज्ञान इन्द्रियजन्य नही हैं, यही कारण है कि अवधि और मन पर्यय ज्ञानको प्रत्यक्ष कहना पडा, पर यह प्रत्यक्षता उपचारसे यो कही जाती इन्द्रियकी अपेक्षा तो इन दोनो ज्ञानोमे नही है किन्तु अन्य अपेक्षा फिर भी इन ज्ञानो मे रहा करती है, इस कारण यह प्रत्यक्ष तो है और एक देश प्रत्यक्ष है, पर इसमे

प्रत्यक्षता उपचारसे बतलायी गई है ।

यत्स्यादवग्रहेहावायानतिधारणा परायत्तम् ।
आद्यं ज्ञानं द्वयमिह यथा तथा नैव चान्तिमं द्वैतम् ॥७०४॥

मति व श्रुतज्ञानकी तरह अवधिज्ञानमे व मन पर्ययज्ञानमे परायत्तता का अभाव—अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञानकी प्रत्यक्षता बतलानेका और भी कारण बता रहे हैं । जैसे अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा इन चार प्रकारके ज्ञानोसे पराधीन होते हुये, इन पद्धतियोमे पराधीन हुए जैसे आदिके दो ज्ञान होते हैं इस तरह ऐसे ज्ञानांशोमे पराधीन होकर अवधिज्ञान और मन पर्यय ज्ञान नहीं होते । तो अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञानमें मति श्रुतज्ञानसे विशेष स्वतन्त्रता मिली है इस कारणसे उन्हे प्रत्यक्ष कहा गया है । अवग्रह ज्ञान कहलाता है इन्द्रिय और मनसे प्रथम ही प्रथम वस्तुका जो कुछ ज्ञान है वह अवग्रह है, जिसको कि प्रथम ही ग्रहण किया है और अवग्रहसे जाने हुए पदार्थमे कुछ विशेष निर्णय करना जहाँ कि संदेह उपस्थित होता हो याने संदिग्ध अंशको दूर करके कुछ विशेष विचारमे आना ईहा ज्ञान है और ईहा ने जो समझा है उसमे पूर्ण निश्चय आ जाना अवाय ज्ञान है । और, अवाय ज्ञानसे जो जाना है उसे भूल न सकना ऐसी धारणा बनना सो धारणा है । ये चार पद्धतियाँ मतिज्ञानमे आती हैं और धारणा पूर्वक श्रुतज्ञान बनता है । तो श्रुतज्ञानमे भी इस पद्धतिका उपयोग हुआ है । तो इस तरह दो ज्ञान जैसे पराधीन है यो अवधि और मन पर्ययज्ञान नही होते, इस कारण इन्हे प्रत्यक्ष कहा गया है ।

दूरस्थानर्थानिह समक्षमिव वेत्ति हेलया यस्मात् ।
केवलमेव मनःसादवधिमनः पर्ययद्वयं ज्ञानम् ॥७०५॥

अवधिज्ञान व मन पर्ययज्ञानकी प्रत्यक्षताका रूप—मतिज्ञान योग्य क्षेत्र मे स्थित पदार्थको जानता है और मतिज्ञानसे ही जाने हुए पदार्थमे श्रुतज्ञानकी प्रवृत्ति होती है । अतएव मतिज्ञान, श्रुतज्ञान नियमित विषय वाले हुए, लेकिन अवधिज्ञान और मन पर्ययज्ञान बाहरमे रहने वाले पदार्थोंको भी लीलामात्रसे प्रत्यक्षकी तरह जान लेता है । तो ये दोनो ज्ञान इन्द्रियकी अपेक्षा नही रखते, केवल इसका किसी प्रकार अन्त करणसे सम्बन्ध रहता है । केवल अन्त:करणके सम्बन्धसे ही ये दोनो ज्ञान दूरवर्ती पदार्थोंको भी जान लेते हैं । किस तरह अन्त: करणका सम्बन्ध इससे होता है इस सम्बन्धमे भली प्रकार बता दिया गया है, फिर भी संक्षेपसे इतना समझ लेना चाहिए कि प्रथम तो ज्ञाता मनसे विचार करता है कि मैं इसको समझूं, उसके बाद फिर पद्धति पूर्वक मन पर्यय ज्ञानकी प्रवृत्ति और अवधिज्ञानकी प्रवृत्ति होती है ।

अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञानकी वर्तनाके समय मनका आलम्बन नही रहता है, पर इनका उपयोग बनानेके लिए पहिला विकल्प किया था, हमारे मनका सम्बन्ध इन दोनो ज्ञानोमे पूर्व पद्धतिसे चलता है। दूसरी बात यह है कि अवधिज्ञान भीतर उत्पन्न हुए नाभिहृदय मस्तिष्क आदिक स्थानोमे जो चिह्न प्रकट होते है उनके सहारेसे अवधिज्ञान जानता है वह अन्त करणकी ही एक पद्धति है और मन पर्ययज्ञान दूसरके मनमे आये हुए विकल्पको जानता है और परकीय मनोगत विकल्पके माध्यमसे वह विषयको दूरवर्ती पदार्थोंको जानता है। इन पद्धतियोमे केवल मनकी किसी प्रकार सहायता हुई है किन्तु इन्द्रियकी वहाँ किसी भी प्रकार सहायता नही है और वह इस ढङ्गसे आत्मीयता रूपमे अवधिज्ञान और मन पर्ययज्ञान अपने विषयको जान लेता है। तो दूरवर्ती पदार्थोंको भूत भविष्यके पदार्थोंको प्रत्यक्षकी तरह जाननेके कारण इन दोनो ज्ञानोको एकदेश प्रत्यक्ष कहा गया है।

अपि किंवाभिनिबोधिकबोधद्वैतं तदादिमं यावत् ।
स्वात्मानुभूतिसमये प्रत्यक्षं तत्समक्षमिव नान्यत् ॥७०६॥

स्वात्मानुभूतिके समयमे मतिश्रुतज्ञानकी प्रत्यक्षसम प्रत्यक्षता - मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परोक्षज्ञान बता ये गए हैं और फिर जिस समय स्वात्माकी अनुभूति होती है उस समय इन दोनो ज्ञानोका जो भी उपयोग है, जो भी ज्ञान हुआ है वह प्रत्यक्ष ज्ञानके समान प्रत्यक्ष कहा जाता है। स्वात्मानुभूतिके समयमे ही इस ज्ञानको प्रत्यक्ष ज्ञान कह सकते हैं, इसे प्रत्यक्ष क्यों कह दिया है, क्योकि सिद्धान्त शास्त्रोमे मति श्रुतज्ञानको परोक्ष स्पष्ट रूपसे बताया गया है तब किसी भी पद्धतिमे उसे प्रत्यक्ष मानना कैसे सङ्गत है ? ऐसी आशङ्का हो सकती है । इस शङ्काका उत्तर स्वय ग्रन्थकार अभी ही कुछ आगे देगा। लेकिन यहाँ सक्षेपमे इतना समझ लेना चाहिए कि जिस समय कोई ज्ञानी पुरुष स्वात्माकी अनुभूति कर रहा है तो उसको स्वात्म विषयमे अनुभूतिका विषय सुसम्वेदन प्रत्यक्षके द्वारा स्पष्ट रहता है। तो यह विशेषता बहुत बडी विशेषता है, इस दृष्टिसे मतिज्ञान और श्रुतज्ञानका स्वात्मानुभूतिके समय हुएकी तरह प्रत्यक्ष ज्ञान माना जाना चाहिए।

तदिह द्वैतमिदं चित्स्पर्शादीन्द्रियविषयपरिग्रहणे ।
व्योमाद्यवगमकाले भवति परोक्षं न समक्षमिह नियमात् ॥७०७॥

इन्द्रियविषयपरिग्रहणमे मतिश्रुतज्ञानकी परोक्षता—मतिज्ञान श्रुतज्ञान इन दोनोका विषय मूर्त और अमूर्त दोनो प्रकारके पदार्थ है। मतिज्ञान ६ प्रकारका है—स्पर्शन इन्द्रियसे उत्पन्न हुआ स्पर्शइन्द्रियजज्ञान, रसना इन्द्रियके साधनसे उत्पन्न

हुआ रसना इन्द्रियज ज्ञान, घ्राण इन्द्रियके साधनसे उत्पन्न घ्राणेन्द्रियज ज्ञान और नेत्र इन्द्रियके साधनसे प्रकट हुआ नेत्रेन्द्रियज ज्ञान और कर्णेन्द्रियके निमित्तसे प्रकट हुआ शब्द विषयक ज्ञानकर्णेन्द्रियज ज्ञान कहलाता है। इस प्रकार अनीन्द्रियज अर्थात् मनसे उत्पन्न हुआ ज्ञान अनिन्द्रियज ज्ञान कहलाता है। इनमेसे पूवके ५ इन्द्रियज ज्ञान तो मूर्त पदार्थको ही विषय करते हैं। क्योंकि इनका विषय रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द है। किन्तु अतीन्द्रियज ज्ञान मूर्त पदार्थको भी और अमूर्त पदार्थको भी विषय करता है, और श्रुतज्ञान भी मूर्त अमूर्त पदार्थोंको जानता है तो ये दोनो ज्ञान जब स्पर्श, रस, गंध वर्ण और शब्द इन विषयोका बोध करने लगते हैं तब ये मति श्रुतज्ञान नियमसे परोक्ष हैं। वहाँ किसी भी प्रकार प्रत्यक्ष नही कहा जा सकता है। और जब यह अमूर्त निज स्वात्माको बोधमे लेता है, अनुभवमे ग्रहण करता है तब यह ज्ञान समक्षकी तरह प्रत्यक्ष हो जाता है। यहाँ इतनी बात विशेष जानना चाहिए कि यदि यह ज्ञान आकाश आदिक अमूर्त पदार्थोंको जान रहा है तब यह प्रत्यक्ष नहीं कहला सकता, किन्तु निज अमूर्त अन्तस्तत्त्वको जब अनुभवमे ले रहे हैं तब ही इसे प्रत्यक्ष कहा गया है। अमूर्तको ग्रहण करनेपर भी यह भेद यहाँ कैसे आया कि अन्य अमूर्त को जाने ? तो प्रत्यक्षकी तरह न कहा जाय और आत्माको ग्रहण करे तब यह प्रत्यक्षकी तरह कहा जाय। यह अन्तर यो पडा कि जब निज आत्मा अनुभवमें आता है तो अनुभव करने वाला ज्ञान है और अनुभवमे आने वाला भी ज्ञानमय अतस्तत्त्व है। तो वहाँ ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय ये तीनों एक बन गए। वही अनुभवमें आ रहा, वही अनुभव करने वाला बन रहा और वही अनुभवन चल रहा, तो जहाँ ज्ञान, ज्ञाता, ध्येयकी एकता हो जाती है वहाँ ही यह अद्भुत प्रत्यक्षता प्रकट होती है और जब अमूर्त आकाश, काल आदिकका विचार चल रहा है उस समयमे जानने वाला तो यह आत्मा है और ध्येय बन रहा है। वे काल आदिक बाह्य पदार्थ हैं, उन बाह्य पदार्थों की जानकारीके समय ज्ञाता ध्येयकी एकता नहीं हो सकती, इस कारण वहा प्रत्यक्षता का अनुभव नहीं होता और इसी बातको स्पष्ट समझनेके लिए स्वयको ऐसा पुरुषार्थ करना होगा। बाह्य परकीय विकल्प तोडकर निर्विकल्प ज्ञानमय निज अतस्तत्त्वका अनुभव करना होगा, निरन्तर उसकी जानकारी बनाये रहना होगा। ऐसे अपूर्व विश्रामके समयमें ध्यानमे अनुभवमें स्वय आ जायगा कि स्वानुभूतिके समय यह ध्यान कैसा प्रत्यक्षकी तरह मालूम हो रहा है। जैसे मिश्रीकी चर्चा करनेसे कहीं मिठासका अनुभव नही होता, वहाँ मिठासका ध्यान तो किया जा रहा है, मगर अनुभवनात्मक विधिसे ध्यान नही हो रहा है और जब कोई मिश्रीको चखने लगे तो वह अनुभवात्मक विधिसे मिठासका ध्यान करने लगेगा, इसी तरह आत्माका भी ध्यान, जब ध्यान ध्येयकी एकताकी विधि नही है तो वह चर्चा मात्र है। वहाँ आत्माकी अनुभूति और प्रत्यक्षता नहीं है, किन्तु जब सर्व विकल्प तोडकर केवक ध्यानमात्रको ही ध्यानमे लेने लगे तो वहा ध्यानानुभूतिकी प्रत्यक्षता अनुभवमें आ जाती है। तो यो

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान स्वानुभूतिके समय प्रत्यक्षज्ञानके समान प्रत्यक्ष हो जाता है।

ननु चाद्ये हि परोक्षे कथमिव सूत्रे कृतः समुद्देशः।
अपि तल्लक्षणयोगात् परोक्षमिव सम्भवत्येतत् ॥७०८॥

मति श्रुत परोक्षज्ञानकी स्वानुभूतिके समय प्रत्यक्ष हो जानेके कारण की जिज्ञासा—शङ्काकार कहता है कि तत्त्वार्थ सूत्रमे "आद्ये परोक्षं" यह सूत्र कहा गया है जिसमे स्पष्ट यह बताया है कि मतिज्ञान और श्रुतज्ञान ये दो ज्ञान परोक्ष-ज्ञान हैं तथा परोक्ष लक्षक भी इन दोनो ज्ञानोमे भले प्रकार घटित होता है। जो इन्द्रियमनकी सहायतासे उत्पन्न हो उसे परोक्षज्ञान कहा है। तो ये दोनो ज्ञान इन्द्रिय और मनसे उत्पन्न हुए हैं फिर उन्हे स्वानुभूतिके समयमे प्रत्यक्ष क्यो बतलाया गया है। जिस समय सम्यग्दृष्टि जीव अपने आत्माकी अनुभूति करता है अर्थात् ज्ञान द्वारा ज्ञानमय आत्मतत्त्वको निर्विकल्प रूपसे जान रहा है उस समय मतिज्ञानको प्रत्यक्ष ज्ञान बताया है। तो यह तो आगम प्रमाणसे विरुद्ध बात आ जाती है। स्वानुभूतिके समयमे ग्रन्थकारने निर्विकल्प ज्ञानके समान प्रत्यक्ष कैसे बतला दिया है? अब इस शङ्काका उत्तर कहते हैं।

सत्यं वस्तुविचारः स्यादतिशयवर्जितोऽविसंवादात्।
साधारणरूपतया भवति परोक्षं तथा प्रतिज्ञायाः ॥७०९॥

इह सम्यग्दृष्टेः किल मिथ्यात्वोदयविनाशजा शक्तिः।
काचिदनिर्वचनीया स्वात्मप्रत्यक्षमेतदस्तियया ॥७१०॥

स्वानुभूतिके समय मतिश्रुतकी प्रत्यक्षता हो जानेका कारण मिथ्यात्वोदय विनाशजा शक्ति—उक्त शङ्काके समाधानमे कहते है कि जिस समय वस्तुका विचार किया जाता है तो उस विचारमे जो बात आती है। युक्तिसङ्गत बैठती है उसमें कोई विवाद नहीं रहता, इसी कारण वस्तु विचार अतिशयरहित होता है, अर्थात् किसीका प्रभाव किसीका दबाव वहाँ नही है किन्तु विचारमे विवाद न होना चाहिए तब ही ठीक है। यद्यपि यह बात ठीक है कि मतिश्रुत ज्ञान परोक्ष हैं और तत्त्वार्थ सूत्रके कर्ता भी मतिश्रुत ज्ञानको परोक्ष बतला रहे हैं परन्तु सम्यग्दृष्टि जीव की कुछ विशेषता हो जाती है। मिथ्यात्व कर्मका नाश हो गया तो ऐसी अनिर्वचनीय शक्ति प्रकट होती है कि उसे अपना आत्मा प्रत्यक्ष होने लगता है। तो मतिज्ञान और श्रुतज्ञानका जो लक्षण किया गया है वह साधारण लक्षण पद्धतिमे लक्षणकी दृष्टिसे ये दोनो ज्ञान परोक्षज्ञान हैं, परन्तु अज्ञानीके मतिश्रुतज्ञाकी पद्धति और

ग्यानीके मति श्रुतग्यानकी पद्धति विलक्षण प्रकारकी है और उसमे भी स्वात्मविषयक मतिग्यानकी उपयोग परिणतिकी पद्धति और भी विशिष्ट प्रकारकी है तब सामान्य रूपसे मतिश्रुतग्यान परोक्ष कहे गए है तो भी दर्शन मोहनीयका क्षय होनेके कारण या उपशम अथवा क्षयोपशम होनेके कारण जो स्वानुभूति विशिष्ट मतिग्यान उत्पन्न होता है वह प्रत्यक्ष कहा जा रहा है। स्वानुभूतिको छोडकर अन्य पदार्थोंके ग्रहण समयमे मतिश्रुतग्यान किसी भी प्रकार प्रत्यक्ष नही होते।

तदभिज्ञानं हि यथा शुद्धस्वात्मानुभूतिसमयेस्मिन ।
स्पर्शनरसनघ्राणं चक्षुः श्रोत्रं च नोपयोगि मतम् ॥७११॥

स्वानुभूतिके समय इन्द्रियज ग्यान न होनेके कारण प्रत्यक्षसमताकी सिद्धि--शुद्ध सहज अतस्तत्त्वके अनुभवके समयमे वर्त रहे मति ग्यानको स्वात्मप्रत्यक्ष क्यो कहा गया है ? इसी कारण इस गाथामें बताया है। ग्रन्थकार कहता है कि शुद्ध स्वानुभूतिके समयमे स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु श्रोत्र ये पाँचो इन्द्रिया उपयोगी नही मानी गई है, अर्थात् जिस समय जीव ग्यानमात्र शाश्वत स्वच्छत्व शक्तिमय आत्माकी अनुभूति कर रहा है उस समय इन्द्रियजन्य ग्यान नही हो रहा। कोई भी इन्द्रिय उस समय कोई कार्य नही कर रही। पाचो ही इन्द्रिया अपने विषयसे निवृत्त हो जाती हैं। यह स्थिति स्वात्मानुभूतिके सम्बन्धमें है। तो इन्द्रियसे उत्पन्न होनेके कारण परोक्षता थी, अब अतिन्द्रियग्यान होनेसे परोक्षता न रही। कुछ थोडा मन उपयोगी होता है सो वह पूर्वकालमे उपयोगी होता है पीछे वहा मनका इस तरह उपयोग न रहकर वह मन स्वय अमूर्त ग्यानरूप हो जाता है। इस प्रकार स्वात्मपदार्थके सम्बन्धमे मति-ग्यान प्रत्यक्ष कहा गया है, वह युक्तिसगत है।

केवलमुपयोगि मनस्तत्र च भवतीह तन्मनो द्वेधा ।
द्रव्यमनो भावमनो नोइंद्रियनाम किल स्वार्थात् ॥७१२॥

शुद्धात्मानुभवके प्रकरणमे केवल मनकी उपयोगिता—स्वात्मानुभूतिके समय इद्रिया तो उपयोगी होती नही, केवल मन ही उपयोगी होता है, उस मनको दो प्रकारका कहा गया है। द्रव्यमन और भावमन। मन और नोइद्रिय ये दोनो एकार्थ-वाचक हैं। मनको ही एकेन्द्रिय क्यो कहा गया ? नो का अर्थ है ईसत। जो इद्रियके ढङ्गसे अपना वाह्य रूप नही रखता किन्तु अन्तरङ्गमे ही कोई सूक्ष्म रचना होती है इसलिए उसका नाम नोइन्द्रिय कहा गया है। अनीन्द्रिय भी इसीको कहते हैं। जो ईसत् इन्द्रिय हो उसे अनीन्द्रिय कहते हैं। इन्द्रियमें और मनमे यही अन्तर है कि इद्रिया तो वाहरमें स्थित हैं, स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र ये शरीरमें बाह्यमे

स्थित हैं और इनका उपयोग भी बाह्य पद्धतिसे होता है। तथा इसका नियत विषय है। जिस इन्द्रियका जो विषय नियत है वह इन्द्रिय उस ही विषयको जानती है, लेकिन मन न तो बाह्यमे स्थित है और न नियत विषयको जानता है। इसी कारणसे मनको ईषत इन्द्रिय बताया गया है और नोइन्द्रिय कहा गया है। मनका दूसरा नाम अन्त. करण भी है। इस मनको अनवस्थित बताया गया है और किस ढङ्गसे इसका प्रभाव परिस्पद रचना अन्य जगह भी कादाचित्क रूपमे कैसे हो रही है? इन सब बातोंके कारण मनको अनवस्थित कहा गया है तो यह मन नोइन्द्रिय है। उस नोइन्द्रियका तो उपयोग है स्वानुभूतिके लिये, पर इन्द्रियका उपयोग वहाँ नही रहता।

द्रव्यमनो हृत्कमले घनाङ्गुलासंख्यभागमात्र यत् ।
अचिदपि च भावमनसः स्वार्थग्रहणे सहायतामेति ॥ ७१६ ॥

द्रव्यमनका स्वरूप इस गाथामे द्रव्यमनका स्वरूप कहा गया हैं। द्रव्यमन हृदयकमलमे रहता है और उसका अवगाहन घनागुलके असख्यातवे भागमात्र है अत शरीरके ही सूक्ष्म निर्माण रूप है। अत अचेतन है जड है। लेकिन जैसे जड इन बाह्य इन्द्रियोके द्वारा भावेन्द्रिय ज्ञान उत्पन्न होता है। ऐसे ही द्रव्यमनके आश्रयसे भावमनकी निस्पत्ति होती है अर्थात् भावमन जिस समय पदार्थोको विषय करता है, उस समय द्रव्यमन उसकी सहायतामे प्राप्त होता है। जीवके साथ ५ वर्गणाओंका सम्बन्ध है। वर्गणायें पौद्गलिक होती है आहार वर्गणा, शरीर वर्गणा, तैजस वर्गणा, कार्माण वर्गणा और मनो वर्गणा। इन ५ वर्गणाओंसे जीवका सम्बन्ध चल रहा है। यद्यपि एक द्रव्यमे दूसरे द्रव्यका अभाव है। जीवमे पुद्गल द्रव्य नही, पुद्गल के स्वरूपमे जीव द्रव्य नही परन्तु निमित्त नैमित्तिक भावसे इस तरहका सम्बन्ध चला आ रहा है तो उन वर्गणाओंमेसे जो मनोवर्गणा है उसके हृदयस्थानमे कमलकी तरह एक रचना बनती है उसे द्रव्यमन कहते हैं। उस द्रव्यमनमे अथवा उसके आश्रय से आत्माको हेय उपादेयरूप विशेष ज्ञान उत्पन्न होता है। इसीको भावमन कहते है। भावमन वही कहलाता है जहाँ हेय और उपादेयका विवेक है। हेयको छोडनेका पौरुष है, उपादेयको ग्रहण करनेका पौरुष है। जिन जीवोंके मन नही होता ऐसे एकेन्द्रियसे लेकर दो इन्द्रिय तकके तो जीव है ही पञ्चेन्द्रियमे भी कोई जीव होते है। तो जिन जीवोके मन नही है वे भी आहारमे प्रवृत्ति करते हैं मनकी प्रवृत्ति भी उनके देखी जाती है। तो ये सब काम मनके बिना भी हो जाते हैं इससे हेय उपादेयके विवेककी कोई बात नहीं है यह तो संज्ञाके कारण जीवोंमे होती ही रहती है। तो मन वाले जीवोंमे श्रेष्ठ मन वाले मनुष्य माने जाते हैं। ज्ञानी जीवके उस द्रव्य मनके आलम्बन से हेय उपादेयरूप एक विशेष ज्ञान जगता है और वही अपनी धारामे चलता हुआ कभी आत्मतत्त्वके स्वरूपको ऐसे सूक्ष्म पद्धतिसे विषय करता है कि वहाँ विकल्प टूट

जाते हैं। उस स्थितिमे मतिज्ञानको प्रत्यक्ष बताया गया है।

भावमनः परिणामो भवति तदात्मोपयोगमात्रं वा।
लब्ध्युपयोगविशिष्टं स्वावरणस्य क्षयाक्रमाच्च स्यात्॥ ७१४॥

भावमनका स्वरूप—इस गाथामे भावमनका स्वरूप कहा गया है। भावमन आत्माका ज्ञानात्मक परिणाम विशेष है। भावमनमे क्या चीज पाई जाती है? तो परखनेपर यही नजर आयगा कि एक ज्ञानभाव ही है, एक विवेक जगा है, वही भावमन है। तो ऐसा भावमन लब्धि और उपयोग सहित होता है। जैसे इन्द्रियलब्धि और उपयोगपूर्वक होता है अर्थात् उस इन्द्रियावरणका क्षयोपशम हो वह तो कहलाया लब्धि और विशेषमे इन्द्रियकी वृत्ति लग गई हो यह कहलाया उपयोग। तो ऐसे ही मन भी लब्धि और उपयोग सहित होता है। अपने आवरण कर्मके क्षयसे जो एक विशुद्धि उत्पन्न हुई है उसका नाम तो लब्धि है और फिर मन अपने विषयमें लग जाय उसका नाम उपयोग है। उपयोग कभी कुछ होना कभी कुछ। अथवा लब्धिके रहते हुए भी उपयोगात्मक बोध न आये, ऐसी भी स्थिति बन जाती है, पर यह नियम है कि लब्धिके बिना उपयोग रूप बोध नहीं बन सकता। तो अमूर्त ज्ञानमात्र स्वात्मतत्त्व की ओर जब मनका उपयोग चला तो स्वात्मानुभावावरण कर्मका क्षयोपशम है, यह तो लब्धि है और स्वात्म विषयकी ओर मन लगा है यह उसका उपयोग है। अब इस लब्धि और उपयोगपूर्वक मनस्वात्मामे लगा रहनेपर ऐसी स्थिति होती है वह भावमन भी अमूर्त स्वात्मरूप निर्विकल्प बन जाता है ऐसी स्वात्मानुभूतिकी स्थितिमे मतिज्ञान को प्रत्यक्ष बताया गया है।

स्पर्शनरसनघ्राणं चक्षुः श्रोत्रं च पञ्चकं यावत्।
मूर्तग्राहकमेकं मूर्तामूर्तस्य वेदकं च मनः॥ ७१५॥

इन्द्रियों और मनकी विषयिताका निर्देश—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये ५ इन्द्रियाँ मूर्त पदार्थको ग्रहण करने वाली हैं। स्पर्शन इन्द्रिय स्पर्श परिणतिके परिचयके माध्यमसे मूर्त पदार्थको ग्रहण करती है। रसना इन्द्रिय रसपरिणति के परिचयके माध्यमसे मूर्त पदार्थको ग्रहण करती है घ्राण इन्द्रिय गंध परिणतिके माध्यमसे गंधवान मूर्त पदार्थोंको ग्रहण करता है। चक्षु इन्द्रिय रूपादिवान पदार्थोंको जानता है और श्रोत्र इन्द्रिय शब्द परिणतिमय पदार्थको जानता है। स्पर्शनका विषय स्पर्श है, लेकिन स्पर्श मूर्त पदार्थसे भिन्न तत्त्व नहीं है और जब कि स्पर्शन इन्द्रियके द्वारा स्पर्शकी प्रमुखतासे मूर्त पदार्थको ही जाना है इसी तरह ज्ञानमे जो कुछ आ रहे हैं इन्द्रिय द्वारा वे सब मूर्त पदार्थ ही आते हैं। स्पर्श, रस, गंध और रूप ये चार तो

गुण परिणतिया है। सो ये पदार्थसे निराली नही है और शब्द है भाषा वर्गणाकी शब्दरूप व्यञ्जन परिणति। वह भी पौद्गलिक है। यो इस इन्द्रियके द्वारा मूर्त पदार्थ जाना गया, किन्तु मन मूर्त और अमूर्त दोनो प्रकारकी प्रवृत्तियोको जानने वाला है। तो प्रकरण यह चल रहा था कि मन आत्माकी अनुभूति करता है। तो आत्मा अमूर्त पदार्थ है सो अमूर्तको मन जान सकता है। उसी प्रकरणमे यह बात चल रही है कि मनसे आत्मतत्त्वका परिचय शुरू हुआ, मनसे परिचय विशेष बना और मनसे आत्मा की अनुभूति जिस प्रकार हो सके उस पद्धति तक आये। अब जिस समय स्वानुभूति हो रही है उस समय मन द्रव्यमनका आश्रय छोड देता है और वह स्वय ज्ञानरूप बन जाता है। इसी विषयको अगली गाथामे कह रहे हैं।

तस्मादिदमनवद्यं स्वात्मग्रहणे किलोपयोगिः मनः।
किन्तु विशिष्टदशायां भवतीह मनः स्वयं ज्ञानम् ॥७१६॥

स्वात्मग्रहणमे मनकी उपयोगिता व स्वात्मानुभूतिके समयमे मनकी ज्ञानरूपता – इस कारण यह बात निदोषरूपसे सिद्ध हो जाती है कि अपने आत्माके ग्रहण करनेमे उपयोगी मन है, इन्द्रिय नही। इन्द्रिय यदि अपने विषयोको स्पर्श रस आदिकको ग्रहण करनेमे लग रही हो तो ऐसी स्थितिमे स्वात्माका उपयोग नही बनता। तो मन स्वात्माको अनुभव लेगा, इन्द्रिय स्वात्माको न अनुभव सकेंगी। तो स्वात्माके ग्रहण करनेमे मन उपयोगी बना और वहाँ इतनी विशेषता बन जाती है कि वह मन जो द्रव्यमे स्वात्माके ग्रहण करनेमे उपयुक्त होता है विशेष अवस्थामे अमूर्त पदाथके ग्रहण करनेके समयमे जब कि एक तान होकर मनमे अमूर्त पदार्थके स्वरूपको ग्रहण कर रहा है उस समय वह स्वय भी अमूर्तज्ञान हो जाता है। अब वहाँ भाव मन अर्थात् विकल्पात्मक परिणति वाला मन न रहा विकल्पात्मक परिणति मेटकर निर्विकल्प रूपमे वह मन आया तो आते ही वह मन न रहा, किन्तु वह सहज ज्ञान बन गया, क्योकि वह भावमन चेतनकी ही तो परिणति है और सहज ज्ञान होना यह भी चेतनकी ही परिणति है। अतएव विशेष स्थितिमे भाव मन अमूर्त ज्ञानरूप हो जाता है। इस प्रकरणमे यह बात कही गई थी कि स्वात्मानुभूति यद्यपि मतिज्ञान स्वरूप है तो भी वह निरपेक्ष ज्ञानके समान प्रत्यक्ष ज्ञान रूप है, इसी बातको यहाँ स्पष्ट कर रहे हैं कि हाँ मतिश्रुत यद्यपि परोक्षज्ञान हैं और वे इन्द्रिय मनसे उत्पन्न होते हैं, उनमेसे मन अमूर्त पदार्थको भी जानने वाला होता है। तो जब वह मन अमूर्त पदार्थके जाननेमे उपयोगी हो रहा हो और स्वात्माका ही ग्रहण करनेके सम्बन्धमे वह मन रूप ज्ञान भी अमूर्त ही है और इसी कारण वह ज्ञान अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष है। इन्द्रिया तो मूर्त पदार्थको ग्रहण करती है पर यह मन अनीन्द्रिय यह अमूर्त पदार्थको ग्रहण करनेमे उपयुक्त गई। तो इन्द्रिय मूर्त पदार्थको ही ग्रहण किया करती है इसी कारण इन्द्रियको स्वात्मानुभूतिके ग्रहण करनेमे अधिकार नही है।

नासिद्धमेतदुक्तं तदिन्द्रियानिन्द्रियोद्भवं सूत्रात् ।
स्यान्मतिज्ञानं यदस्फुटं किल भवेच्छ्रुतज्ञानम् ॥७१७॥

अयमर्थो भावमनो ज्ञानविशिष्टं स्वयं हि सदमूर्तम् ।
तेनात्मदर्शनमिह प्रत्यक्षमतीन्द्रियं कथं न स्यात् ॥७१८॥

आत्मदर्शनकी अतीन्द्रियता व प्रत्यक्षताकी सिद्धि—मति श्रुतज्ञान परोक्ष हैं फिर भी स्वात्मानुभूतिके समयमें प्रत्यक्षकी तरह होते हैं, यह कथन असिद्ध नहीं है। सूत्रमें भी यही बतलाया है कि मतिज्ञान और मतिज्ञान होने बाद श्रुतज्ञान ये इन्द्रिय और मनसे उत्पन्न होते हैं और यहां इतनी विशेषता और है कि भावमन व विशेष ज्ञान जब अमूर्त पदार्थको ग्रहण कर रहा हो उस समय वह स्वयं अमूर्त हो जाता है। उस अमूर्त मनरूप ज्ञानके द्वारा अर्थात् अमूर्त आत्मतत्त्वकी भांति परिचय द्वारा जब स्वतत्त्वका ग्रहण हो रहा है तो उस समय वह ज्ञान प्रत्यक्ष और अतीन्द्रिय हो जाता है। सारांश यह है कि केवल आत्माको जानने वाला जो मानसिक ज्ञान है वह अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष कहलाता है और यों स्वानुभूतिके समयमें यह ज्ञान निरपेक्ष स्पष्ट और अतीन्द्रिय है।

अपि चात्मसंसिद्ध्यै नियतं हेतू मतिश्रुती ज्ञाने ।
प्रान्त्यद्वयं विना स्यान्मोक्षो न स्यादृते मतिद्वैतम् ॥७१९॥

आत्मसिद्धिके लिये मतिज्ञान व श्रुतज्ञानकी नियतता इसी सम्बन्धमें एक विशेष बात और कही जा रही है कि आत्माकी शुद्धिमें तो मतिज्ञान और श्रुतज्ञान ये दो ही ज्ञान नियत हैं अर्थात् आत्मसिद्धि इन दो ज्ञानोके कारणसे होती है। केवल ज्ञान तो फलरूप है यह तो साक्षात् स्पष्ट अनन्त आत्मशुद्धि है ही, उसके पहिले चार ज्ञान होते हैं। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान इनमेसे अवधि और मनःपर्ययज्ञान इन दोके बिना मोक्ष हो जाता है अर्थात् मतिश्रुत इन दो ज्ञानोके बिना मोक्ष नही होता। इससे भी यह जाहिर होता है कि आत्माकी भली प्रकार सिद्धि करनेके लिए मतिज्ञान और श्रुतज्ञान ये दो ही नियत कारण कहलाते हैं। सिद्धान्त शास्त्रमे बताया है कि अनेक जीव मति और श्रुतज्ञान इन दो के बाद केवलज्ञान प्राप्त करके सिद्ध हुए हैं। कोई मुनीश्वर मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान इनको पाकर केवली हुए है और कोई मति, श्रुती मनःपर्यय ऐसे तीन ज्ञान प्राप्त करके केवल ज्ञान प्राप्त करने वाले हुए हैं और कोई मुनि मति, श्रुत, अवधि मनःपर्यय इन चार ज्ञानो मे रहकर तपश्चरण करते हुए केवल ज्ञानकी प्राप्ती की है। तो यो आत्माकी सिद्धिमे

निगन कारण मतिश्रुति तो अवश्य ही हुए। अवधिज्ञान न हो, मनःपर्ययज्ञान न हो तब भी केवल ज्ञान हो जाता है और अतीन्द्रिय आनन्द पदकी प्राप्ति हो जाती है। इस तरह यह सिद्ध हुआ कि सुमतिज्ञान और सुश्रुतज्ञान ये दो ही आत्माकी प्राप्तिमे मुख्य कारण हैं इस कारण ही यह बात सिद्ध हो जाती है कि मतिज्ञान द्वारा स्वात्मा का साक्षात्कार हो जाता है जब कि मिथ्यात्वका उदय नही है, ऐसी स्थितिमे मतिज्ञानकी विशिष्ट शुद्ध परिणति हो जाती है और वह मतिज्ञान जब अमूर्त जो अन्तस्तत्त्वका परिचय करे। तो वहा एक तान होकर यही मतिज्ञान अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष बन जाती है।

ननु जैनानामेतन्मत मतेष्वेव नापरेषां हि।
विप्रतिपत्तौ बहवः प्रमाणमिदमन्यथा वदन्ति यतः ॥७२०॥

अन्य मतोंमे अन्य प्रकार भी प्रमाण माने जानेके कारण जैन सम्मत प्रमाण व्यवस्थामे विसवादकी आशका – अब यहाँ शङ्काकार कहता है कि सभी मतोमे एक जैन मत ऐसा है कि जिसमे प्रमाणकी ऐसी व्यवस्था की गई है जहाँ अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भव दोष नही आते, यह कथन तो असिद्ध है, विवाद ग्रस्त है। प्रमाणके सम्बन्धमे अनेक लोग अनेक प्रकारकी धारणायें बनाते है, किन्तु विचार करनेपर किन्हीमें असम्भव दोष है किन्हीमे अव्याप्ति दोष है, किन्हीमे अतिव्याप्ति दोष है। निर्दोष लक्षण नही बन पाता। अनेकान्तवादमे जो प्रमाणका लक्षण किया गया है वह सर्व दोषोसे रहित हित अहितकी प्राप्ति व परिहार करनेमे समर्थ प्रमाण बन जाता है। यहा प्रमाणका लक्षण ज्ञान बताया गया है। ज्ञान ही प्रमाण होता है क्योकि सारी व्यवस्था है, निर्णय निश्चय ज्ञान द्वारा ही होती है इसलिए प्रमाण ज्ञान भी है ऐसा ज्ञानका लक्षण बताकर फिर ज्ञानके प्रत्यक्ष परोक्ष आदिक विधि पूर्वक भेद किए गए हैं।

वेदाः प्रमाणमिति किल वदन्ति वेदान्तिनो विदाभासाः।
यस्मादपौरुषेयाः सन्ति यथा व्योम ते स्वतः सिद्धाः ॥७२१॥

वेदप्रमाणवाद—कोई दार्शनिक ऐसा कहते हैं कि वेद ही प्रमाण हैं और वे वेद पुरुषके बनाये हुए नही हैं, आकाशकी तरह स्वत. सिद्ध हैं। यह लक्षण केवल एक वेदको धर्मरूप मानके प्रयोजनसे किया गया है। वेद ही प्रमाण है। पुरुष कुछ भी जाने, अच्छा जाने तो भी वह प्रमाण नही है और एक वेद जो कि अपनी किसी भाषाका है वह प्रमाण हो गया, ऐसा कहनेसे वेदकी प्रतिष्ठाका सहारा मिला पर वेद प्रतिष्ठाकास हारा यो देनेकी भावना जगी कि वेदके कर्मकाण्डोसे धर्मात्मापन भी प्रकट

रहेगा। और विषयोका साधन भी बना रहेगा, इत्यादि कुछ अनेक प्रयोजन हो सकते हैं जिससे ज्ञानकी प्रमाणताका निषेध कर दिया जाय और एक वेदको ही प्रमाण कहा जाय, किन्तु ज्ञानके बिना तो कोई बाहरी चीज जो यथार्थतया सहायक है वह भी प्रमाण नही कहलाता। इस विषयको आगे संक्षेप रूपमे दतावेगे।

अपरे प्रमानिदानं प्रमाणमिच्छन्ति पण्डितम्मन्याः।
समयन्ति सम्यगनुभवसाधनहि यत्प्रमाणमिति केचित् ॥७२२॥

प्रमानिदानकी प्रमाणताका दर्शन—कोई पुरुष प्रमाके निदानको प्रमाण मानता है। प्रमा नाम है प्रमाणके फलका। प्रमाणमे जो कुछ समझा जाता, किया जाता उसका फल क्या है ? तो फल यह है कि किसी कामसे जुट जाय, किसी काम को छोड दे, ऐसे ही कुछ काम होते हैं, यदि वह प्रमा हुई तो प्रमाके निदानका नाम प्रमाण है अर्थात् प्रमाणके फलका नाम प्रमा है। उस फलका जो साधकतम करण है जिसके द्वारा वह प्रमा साधी जाती है वही प्रमाण है, ऐसा कुछ लोग कहते हैं। और कोई लोग यो भी कहते हैं कि जो सम्यग्ज्ञानमे कारण पडता हो वही प्रमाण है। जैसे पदार्थ हो तो ज्ञान बनता है, तो पदार्थ ही प्रमाण है। प्रकाश हो तो ज्ञान बनता है, तो प्रकाश ही प्रमाण है। इस तरह ज्ञानमे जो जो साधन पडते हैं वे सब प्रमाण हैं। इन्द्रिय प्रमाण हैं, इन्द्रियकी परिणतियाँ प्रमाण हैं। ऐसे अनेक साधन जो कि ज्ञानकी स्थितिमे हेतुभूत होते हैं वे प्रमाण कहलाते हैं, ऐसा कुछ दार्शनिक कहते हैं।

इत्यादि वादिवृन्दैः प्रमाणमालक्ष्यते यथारुचि तत्।
आप्ताभिमानदग्धैरलब्धमानैरतीन्द्रिय वस्तु ॥ ७२३ ॥

अतीन्द्रिय वस्तुस्वरूप न समझनेके कारण अन्य भी अन्यथा प्रमाण कल्पना—इत्यादिक प्रकारसे अनेक वादियोंने अनेक प्रकारसे प्रमाणका लक्षण कहा है। सो उन्होने अपनी-अपनी रुचिके अनुसार बनाया है। वस्तुके स्वरूपको समझना है, ऐसा लक्ष्य नहीं किया है। अतीन्द्रिय वस्तुके स्वरूपको नहीं पहिचाना है, सो नाना प्रकारके प्रमाणके लक्षण कहे जाते हैं और अपने आपको मैं आप्त हू, प्रभु हू, इस प्रकारकी अभिलाषासे चलाया जाता है। तो ऐसे अनेक वादीगण प्रमाणका स्वरूप अपनी अपनी इच्छाके अनुसार करते हैं लेकिन वे सब अपना लक्षण सहेतुक हो नही सकते, क्योकि लक्षण बहुत हैं और परस्पर विरुद्ध लक्षण हैं। तो कैसे वे सब युक्त हो सकते हैं ? तो उन प्रमाणोमे दूषण आता है। इस ही बातका संकेत अब अगली गाथामे कर रहे हैं।

प्रकृतमलक्षणमेतल्लक्षणदोषैरधिष्ठित यस्मात् ।
स्यादविचारितरम्य विचार्यमाण खपुष्पवत्सर्वम् ॥ ७२४ ॥

स्याद्वादसम्मत प्रमाणस्वरूपके विरुद्ध प्रमाणकिल्पनामे लक्षणदोष होनेसे असङ्गतता --जिन प्रमाणोका उल्लेख ऊपर किया गया है वे सब दूषित हैं, इसका कारण है कि प्रमाण भी जो निर्दोष लक्षण होना चाहिए--अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भव दोषसे रहित होना चाहिए वह लक्षण उनके कहे हुए प्रमाणमे घटित नही होता है । तो उक्त सब प्रमाणोके लक्षण दोषसे सहित है और वे बिना विचारे ही पीछे सुननेमे रमणीक लगते हैं, पर उनपर कुछ विचार किया जाय तो जैसे आकाशका फूल कोई वस्तु नही है असिद्ध है । इसी तरहसे ये सब प्रमाण भी असिद्ध होते है, क्योकि प्रमाण वह है जो हितकी प्राप्ति कराये और अहितका परिहार कराये । ऐसा करानेमे समर्थ ज्ञान ही होता है । सभी लोगोके अनुभवमे यह बात होगी कि ज्ञान जगा कि हितकी प्राप्ति और अहितका परिहार हो जाता है । लेकिन उक्त प्रमाणके लक्षणमे ज्ञानको साथ रखा ही नही गया है । कोई ज्ञानके कारण बताते हैं कोई अचेतन दोषीपन बताते हैं । ज्ञान ही प्रमाण है, इस बातका सकेत इन दार्शनिकोमेसे किसीने भी नही किया है । इस कारण ये प्रमाणके लक्षण दूषित हैं और केवल सुनने मात्र समय तक ये बिना विचारे सुन्दर प्रतीत होते हैं ।

अर्थाद्यथा कथञ्चिज्ज्ञानादन्यत्र न प्रमाणत्वम् ।
करणादि बिना ज्ञानदचेतन कः प्रमाणयति ॥ ७२५ ॥

ज्ञानमे ही प्रमाणत्वकी सिद्धि उक्त गाथामे यह बताया है कि अन्य वादियोके माने हुए प्रमाणके लक्षणमे दूषण आता है । उन्ही दूषणोको कुछ कुछ स्पष्ट करनेके लिए क्रमश: कुछ वर्णन किया जा रहा है । किसी भी प्रकार ज्ञानको छोडकर अन्य किसी भी लक्षणमे प्रमाणता आ नही सकती, कारण उसका यह है कि ज्ञान यदि नही है तो जड अचेतन कर्ण आदिकको कौन प्रमाण समझ लेगा ? प्रमाणका फल है अज्ञानकी निवृत्ति होना, अर्थात् प्रमा जो जानकारी है, जिसमे अज्ञान नही रहा वही तो प्रमाणका फल है और उसका कारण है वह भी अज्ञान निवृत्ति रूप होना चाहिए याने अज्ञान दूर करना तो फल है और अज्ञान दूर करनेका जो कुछ भी साधन होगा वह भी ज्ञान रूप ही होगा । जड पदार्थ प्रमेय भले ही है मगर वह कभी प्रमाण नही हो सकता । प्रमाण नही हो सकता याने अज्ञानकी निवृत्ति वही कर सकता जो स्वय ज्ञानरूप हो गया अपने आपको तो जानने वाला हो वही परका ज्ञाता हो सकता है किन्तु जो स्वय अज्ञानरूप है वह किसी भी प्रकार परका जाननहार नही

बन सकता । ऊपर जो अन्य वादियोंने प्रमाणके लक्षण किए हैं और वहाँ बताया है कि जो प्रमाका कारण हो सो प्रमाण है और प्रमाका जो करण माना है वह सब जड माना है । इन्द्रिय है, प्रकाश है ये सब माने गए हैं प्रमाणरूप हैं, ये सब जड । तो जो जड है, स्वयं अपनेको नहीं पहिचान सकता है वह प्रमाण किस तरह हो जायगा ? तो इन्द्रिय आदिक जो प्रमाके करण माने हैं ज्ञानहीन, वे प्रमाण नहीं हैं, किन्तु प्रमाण ज्ञान स्वरूप हो सकता है ।

तत्रान्तर्लीनत्वाज्ज्ञानसनाथं प्रमाणमिदमिति चेत् ।
ज्ञानं प्रमाणमिति यत्प्रकृत न कथ प्रतीयेत ॥७२६॥

ज्ञानसहित करणको प्रमाण बतानेपर ज्ञानके ही प्रमाणत्वकी सिद्धि- यदि शङ्काकार यहा यह कहे कि हम तो ज्ञानसहित बाह्य कारणोंको प्रमाण मानते हैं याने वे इन्द्रिय प्रकाश आदिक सीधे प्रमाण हैं, पर उनमें ज्ञान अन्तर्लीन है इस कारण से ज्ञानसहित बाह्य करणोंको प्रमाण माना है । शङ्काकार यदि ऐसा आशय रख रहा है तब उसमें भी यही तो सिद्ध हुआ कि ज्ञान ही प्रमाण है, क्योंकि ज्ञानसहित वर्णों को प्रमाण माननेकी बात कह रहे हो । तो वह कारण चाहे कितना ही हो जाय, इन्द्रियका व्यापार हो, कारकोंकी सफलता आ जाय, पदार्थका सान्निध्य हो, इन्द्रिय और पदार्थ इन दोनोंका भिडाव हो आदि कितने ही करण हो जाये, पर पदार्थका बोध करने वाला प्रमाण तो ज्ञान ही पडेगा । ज्ञान नहीं है तो कितने ही कारण जुट जायें वे सब सामग्री निरर्थक हैं, सर्वसामग्री सामने हैं और उस समय ज्ञान भी हो रहा है । अब वहाँ विवेक करनेकी बात है कि इस हीन अवस्थामें यद्यपि इन्द्रिय आदिक बाह्य करण भी कारण हो रहे हैं पर साक्षात् बोध करता कौन है ? तो विचार करने पर यह स्पष्ट विदित होगा कि ऐसा बोध कर्ता ज्ञान ही है । तब ज्ञान ही प्रमाण है ।

ननु फलभूतं ज्ञानं तस्य तु करणं भवेत्प्रमाणमिति ।
ज्ञानस्य कृतार्थत्वात् फलवत्त्वमसिद्धमिदमिति चेत् ॥७२७॥

ज्ञानको प्रमाण न मानकर प्रमाणफल माननेकी आरेका—शङ्काकार यहाँ अपना अभिप्राय रख रहा है कि ज्ञान तो प्रमाणका फल हुआ करता है । प्रमाण हुआ, अब उसका फल क्या है कि ज्ञान बन गया । तो ज्ञान तो प्रमाणका फल है, अब जो प्रमाणका फल है, याने ज्ञान उसका जो कारण है सो ही तो प्रमाण होता है, और यदि ज्ञानको ही प्रमाण मान लिया जाय तो ज्ञान तो प्रमाण बन गया और ज्ञान ही उसका फल है तो ज्ञानका प्रयोजन तो पहिले ही बन चुका याने ज्ञानका जो फल

होना चाहिए ज्ञान वह फल तो पहिले ही हो गया। अब इस ज्ञानका फल क्या होगा तो यदि ज्ञानको ही प्रमाण मान लिया जायगा तो ज्ञानका कोई फल न रहेगा। फल का अभाव हो जायगा। इस कारण प्रमाण और प्रमाणका फल ये दोनो ही जुदे होना चाहिए। प्रमाणका फल ज्ञान है तो उससे निराला कोई प्रमाण होना चाहिए, क्योकि प्रमाण फल रहित नही होता, उसका फल अवश्य होना चाहिए। तो ऐसी स्थितिमे मे ज्ञानको तो प्रमाणका फल मान लेना उचित है और उस ज्ञानके कारणको जो कि करण इन्द्रिय प्रकाश आदिक बताये हैं उनको प्रमाण मान लेना ठीक है। यदि इस तरह प्रमाण और प्रमाणका फल न माना जाता तब फलका अभाव हो जायगा अथवा प्रमाण, प्रमाणका फल, ये दोनो ही कुछ न रहेगे। अब इस शङ्काके उत्तर मे कहते हैं।

नैवं यतः प्रमाणं फलं च फलवच्च तत्स्वयं ज्ञानम्।
दृष्टिर्यथा प्रदीपः स्वयं प्रकाश्यः प्रकाशकश्च स्यात् ॥७२८॥

उक्त शकाके समाधानमे प्रमाण, प्रमाणफल व प्रमाण करणकी अभिन्नताका कथन शङ्काकारकी उक्त शङ्का यो सङ्गत नही है क्योकि प्रमाण और प्रमाणका फल और उसका कारण ये सभी ज्ञानरूप ही पडते है। प्रमाण है सो वह ज्ञानस्वरूप है, प्रमाणका फल है सो भी ज्ञानस्वरूप है। प्रमाणका जो कारण है याने प्रमाणके फलका जो कारण वह भी ज्ञानरूप है और इस बातको समझनेके लिए एक प्रसिद्ध दृष्टान्त यह है कि जैसे दीपक स्वय प्रकाशमान है और वह दूसरेके प्रकाश का भी कारण है। तो जैसे दीपक अपना भी प्रकाश करता है और दूसरोका भी प्रकाश करता हैं इसी तरह ज्ञान खुद प्रमाण है जाननहार है और उसका फल अज्ञान दूर होना या इष्ट पदार्थका ग्रहण करना, अनिष्ट पदार्थका त्याग करना वह सब भी ज्ञानरूप है। ज्ञानसे भिन्न न कोई प्रमाण है और न कोई उसका फल है। यहाँ यह आशङ्का न रखनी चाहिए कि ऐसा माननेसे तो प्रमाण और फल एक ही हो जायेगे पर फल कुछ न रहेगा। यह आशङ्का इस कारण न रखनी चाहिए कि प्रमाण और प्रमाणका फल ये कोई भिन्न नही है। ज्ञान ही प्रमाण है और ज्ञान ही प्रमाणका फल है। ज्ञान और प्रमाण एक ही वस्तु हैं और प्रमाणका जो फल है वह उस प्रमाणसे सर्वथा भिन्न नही है। कथंचित् भिन्न कह सकते, उसमे फल समझनेके लिए कि ज्ञान हुआ तो इसका फल क्या हुआ ? तो ज्ञान हुआ सो तो प्रमाण है और ज्ञान होनेसे अज्ञान न रहा अथवा इष्ट वस्तुका ग्रहण करनेका विवेक न जगा, अनिष्ट वस्तुके छोडनेकी बुद्धि आई यह सब प्रमाणका फल है। और भी [illegible] हो तो यो समझिये कि पहिले ज्ञान हुआ, उसके बाद जो [illegible]
चाहिए, यह ग्रहण करना चाहिए अथवा उन [illegible]

जो प्रमाणरूप ज्ञान है जो प्रकृत लक्षणमे लक्ष्यरूप किया गया है वही ज्ञान तो अज्ञान से निवृत्त होता है और उसीमे हेय उपादेयकी बुद्धि बनती है। अथवा उपेक्षारूप बुद्धि होती है। इस कारण ज्ञान ही प्रमाण है और ज्ञान ही फल है। तो ज्ञानको छोडकर अन्य कोई करण अचेतन प्रमाण नही हो सकता और ज्ञान ही प्रमाण है ज्ञान ही फल है, ऐसा अनुभवमे भी आता है। यहाँपर यह आशङ्का न रखनी चाहिए कि फिर फल क्या रहेगा ? वही फल है। उससे जो जीवको एक बुद्धि जगती है कि उपेक्षा करने योग्य चीजमे उपेक्षा करलो, ग्रहण करने योग्य चीजको ग्रहण करले, त्यागने योग्य चीजको त्याग दे, यही उसका फल है। अत मानना चाहिए कि प्रमाण ज्ञान ही हो सकता है, अज्ञान नही हो सकता।

उक्त कदाचिदिन्द्रियमथ च तदर्थेन सन्निकर्षयुतम्।
भवति कदाचिज्ज्ञान त्रिविध करणं प्रमायाश्च ॥ ७२९ ॥

पूर्वं पूर्वं करणं तत्र फल चोत्तरोत्तर ज्ञेयम्।
न्यायात्सिद्धमिद चित्फल च फलवच्च तत्स्वयं ज्ञानम् ॥ ७३० ॥

स्याद्वाद विधिसे निरखनेपर प्रमाणत्वके अनेक कथनोमे ज्ञानके ही प्रमाणत्व, प्रमाणफल और प्रमाणसाधत्वकी सिद्धि अब स्याद्वाद विधिसे उन प्रमाणके सब लक्षणोपर दृष्टिपात कीजिए। कभी इन्द्रियको भी प्रमाण कह दिया जाता है। कुछ दार्शनिक लोग तो सैद्धान्तिक रूपसे इन्द्रियको प्रमाण मानते हैं, सैद्धान्तिक रूपसे इन्द्रियको प्रमाण माननेका अर्थ है कि इन्द्रिय ही साक्षात् प्रमाण है, ज्ञान तो उसका फल है या जो कुछ आगे होगा। तो सैद्धान्तिक विधिसे जो इन्द्रियमे प्रमाण माना है वह प्रमाण शुद्ध नही है। हाँ कभी लोकव्यवहारमे भी लोग कहते हैं कि हमारी इन्द्रियाँ प्रमाण हैं। और इतना ही क्या लिखित दस्तावेज भी अर्थात् कागज भी सामने उपस्थित कर दिया जाता है कि लो यह प्रमाण है। तो यो व्यवहारमें अचेतन पदार्थोंको भी प्रमाण कहनेकी रूढि है, पर वहाँ तथ्य समझना चाहिए। वहाँपर भी ज्ञान प्रमाण है, यही बात सिद्ध होती है। जैसे इन्द्रिय प्रमाण कहा है तो इन्द्रियरूप अवस्थासे भी एक आत्माकी अवस्था बनती है। इन्द्रियाँ दो है—द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय। तो भावेन्द्रिय है वह आत्माकी एक अवस्था है, वह ज्ञानस्वरूप है। भावेन्द्रिय द्रव्येन्द्रियके साधनसे विकसित होती है। तब कारण होनेसे द्रव्येन्द्रियको भी लोग प्रमाण कह देते हैं, पर सैद्धान्तिक रूपसे वे जड द्रव्येन्द्रिय प्रमाण नहीं हो सकते, वे तो एक छद्मस्थ अवस्थामे ज्ञानकी उत्पत्तिके साधकरूप हैं। तो कभी व्यवहारमे जड इन्द्रियको प्रमाण कह दिया तो कारणरूपसे उपचारसे कह दिया है, पर वह यथार्थ नही है, उसका मर्म समझना चाहिए—उस कारणसे जो भावेन्द्रियकी उत्पत्ति

होती है जो भावेन्द्रिय स्वयं आत्माकी एक अवस्था बन रही है वह ज्ञानरूप है और वह प्रमाण है। व्यवहारमे निवृत्ति और पदार्थके सम्बन्धको भी प्रमाण कहते हैं। उसमे भी तथ्य बसा है और वह तथ्य है कि वहाँ भावज्ञान समझा जा रहा है। तो यहाँ भी ज्ञान ही प्रमाण सिद्ध हुआ, किन्तु जो लोग सैद्धान्तिक रूपसे इन्द्रिय या पदार्थ का सम्बन्धको प्रमाण कहते है वह युक्तिसङ्गत नही है। जैसे हाथ आदिक इन्द्रियोका सम्बन्ध भी ऐसे हुआ तो सम्बन्धमात्र प्रमाण नहीं है, किन्तु सम्बन्ध होनेपर जो ज्ञान जगा वह ज्ञान प्रमाण है। तो सन्निकर्ष अवस्थामे जो ज्ञान जगा उस ज्ञानपर दृष्टि जाय और उसे प्रमाण माने तब तो मर्म समझा है और ज्ञान ही प्रमाण है, यह बात सिद्ध हुई है। और कोई केवल जड जडके सम्बन्धको ही प्रमाण कहे, तो जैसे जड प्रमाण नही हो सकता उसी प्रकार जडका सयोग भी प्रमाण नहीं हो सकता। इन्द्रियाँ भी जड हैं और पदार्थ भी जड हैं। तो जडोका सयोग प्रमाण नही है किन्तु जो उस स्थितिमे ज्ञान जगा है वह ज्ञान प्रमाण है। कभी एक व्यापारको भी प्रमाण कह दिया जाता है याने इन्द्रियकी जो वृत्ति है वह प्रमाण है। तो इन्द्रियकी वृत्ति क्या है? इन्द्रियाँ यदि भावेन्द्रिय रूपसे मानी जा रही हैं तो उसकी वृत्ति वह भी ज्ञानरूप है। तो इन्द्रिय वृत्ति यदि भावेन्द्रिय रूप है तो वह भी ज्ञान प्रमाण है, यह सिद्ध कर रहा है। अथवा परम्पर्या बाह्य साधनके रूपसे द्रव्येन्द्रियका व्यापार कहा जा रहा है। यदि वह एक कारण परम्पराख्यसे प्रमाण कह दिया जाय वह एक औपचारिक बात है, पर साक्षात् बात नही हुई। साक्षात् कारण को स्वय ज्ञानरूप ही पडता है। अब इन तीन आत्माओंकी अवस्थाओमे अर्थात् भावेन्द्रिय प्रमाण है इन्द्रिय और पदार्थका सन्निकर्ष हुआ है उस सन्निकर्षमे जो अभिमुखता हुई है वह प्रमाण है, और इन्द्रियका जो व्यापार है याने भावेन्द्रियकी जो वृत्ति है वह प्रमाण है, इस तरह इन तीनोमे विचार किया जाय तो पहिली चीज कारण पडती है। दूसरी ज्ञान अवस्था कार्य अथवा फल पडता है और उसके बादमे ज्ञान अवस्थाका कारण पूर्वज्ञान अवस्था पडता है। जैसे इन्द्रियाँ प्रमाण हैं तो यहा कारण पडा इंद्रियाँ और पदार्थके सन्निकर्षरूप प्रमाणका। इन्द्रिय पदार्थका सन्निकर्ष प्रमाण है यह कारण पडा इन्द्रिय वृत्तिका। इस तरह यहा यह तीनो ही ज्ञानरूप पडा, तो ज्ञान ही प्रमाण है और ज्ञान ही फल है, यह भली भाँति सिद्ध हो जाता है।

तत्रापि यदा करणं ज्ञानं फलमिद्धिरस्ति नाम तदा ।
अविनाभावेन चितो हानोपादानबुद्धिसिद्धित्वात् ॥७३१॥

ज्ञानकी कारणरूपता व फलरूपताका प्रतिपादन— यहा भी यह समझना चाहिए कि जिस समय ज्ञान करण पडता है उस समय आत्माकी त्याग और ग्रहण रूप सिद्धि उसका फल कहलाती है। अर्थात् पूर्व ज्ञान करण हुआ और उत्तर ज्ञान

फल हुआ। ऐसा अनुभवमे आता भी है कि ज्ञान हुआ और ज्ञानके बाद तुरन्त ही और अन्य बुद्धि जगी कि इसको यो छोडना चाहिए अथवा ग्रहण करना चाहिए। तो यो ज्ञानकी धारा सतत् चलती रहती है और उत्तरोत्तर ज्ञानके बाद ज्ञान विकसित होते चले जाते हैं। तो वहाँ ऐसा भेद डालकर समझा जा सकता है कि पहिले ज्ञान हुआ, बादमे त्याग ग्रहण हुआ। तो त्याग ग्रहणमे भी बुद्धि ही इस प्रकारकी उत्पन्न हुई है, बाह्य वस्तुओका त्याग करना अथवा ग्रहण करना ये तो बाहरी बातें हैं, वहाँ जो त्याग और ग्रहणकी बुद्धि जगी है वास्तविक त्याग और ग्रहण तो वह कहलाता है। तो ज्ञान ही प्रमाण है, ज्ञान ही फल है। यदि प्रमाण और फलकी जुदी जुदी स्थितियाँ समझना है तो इस तरह समझा जा सकता है कि पहिले जो ज्ञान हुआ है वह तो प्रमाण है, और इसके तुरन्त बाद जो त्याग ग्रहणकी बुद्धि जगी है वह प्रमाण का फल कहलाती है।

नाप्येतदप्रसिद्धं साधन साध्यद्वयोः सदृष्टान्तात् ।
न विना ज्ञानात्त्यागो भुजगादेर्वा स्रगाद्युपादानम् ॥७३२॥

ज्ञानको साधन और साध्य माननेको अविसंवादिता– ज्ञानका कारण भी अर्थात् साधन भी ज्ञान पडता है और साध्यका ज्ञान पडता है यह बात असिद्ध नहीं है किन्तु दृष्टान्तसे सिद्ध है, साधन ज्ञान पडता है। जैसे सर्प आदिकका त्याग करना है कोई तो उसे ज्ञान हो तभी तो वह हटा। हितकी प्राप्तिमे जैसे ज्ञान समर्थ है उसी प्रकार अहितके परिहारमे भी ज्ञान समर्थ है जैसे जो इष्ट पदार्थ लगते हैं माला, भजन आदिक उनका ग्रहण करते हैं जीव तो ज्ञान हो तभी तो वे कर रहे हैं, इसी तरह अनिष्टका परिहार होता है इस ज्ञानबलसे ही होता है और जो हितकी प्राप्ति एव अहितका परिहार करनेमें समर्थ हो वही प्रमाण कहलाता है। तो जो हितकी प्राप्ति कराये, अहितका परिहार कराये ऐसा साधन ज्ञान ही हो सकता है क्योंकि ज्ञान बिना ये दोनो काम सम्भव नही हैं। अब फल पर विचार करें तो फल भी ज्ञान रूप ही होता है। जैसे ज्ञान प्रमाण हो उसका फल क्या हुआ ? अज्ञानकी निवृत्ति ही हुई तो अज्ञान निवृत्ति करनेमे कौन समर्थ हुआ ? यह ज्ञानभाव ही समर्थ है। अतः यह बात प्रमाण सङ्गत है। ज्ञान ही प्रमाण कहलाता है और फल भी ज्ञान से अभिन्न है।

उक्तं प्रमाणलक्षणमिह यदनार्हतं कुवादिभिः स्वैरम् ।
तल्लक्षणदोषत्वात्तत्सर्वं लक्षणाभासम् ॥७३३॥

अनार्हत प्रमाणलक्षणोकी लक्षणाभासता—जो कुछ प्रमाणका लक्षण

कार बनाया गया है दूसरे दार्शनिकोके यहाँ वह अनारहत साधन है अर्थात् जैन सम्मत दर्शन नहीं है। यह तो उन कुवादियोने अपने मनसे गढकर अपनी ही स्वेच्छासे कहा है और उसमे लक्षणके तीन दोष आते हैं। लक्षणमे तीन प्रकारके दोष हुआ करते अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भव। ये तीनो ही दोष उन वादियोके कहे हुए प्रमाणके लक्षणमे आते हैं। किसीमे एक देश, किसीमे दो देश इस तरहसे वे दोषसे दूषित हैं। अव्याप्तिका अर्थ है कि जिसका लक्षण किया जा रहा है उस लक्ष्यमे सबमे यह लक्षण न पाया जाय कुछमे पाया जाय कुछमे नही उसे अव्याप्ति कहते हैं। अतिव्याप्तिका अर्थ है अधिकमे व्याप्त रहे, जो लक्ष्य नही हैं अलक्ष्य हैं उनमे भी व्याप्त रहे चाहे लक्ष्यमे सबमे व्याप्त रहे लेकिन अलक्ष्यमे भी जब लक्षणसे रहित हो गया तो लक्षणसे फिर पहिचान नही बन सकती। असम्भव दोष उसे कहते हैं कि जो लक्षण लक्ष्यमे पाया ही न जाय तो असम्भव दोषमे कोई लक्ष्य नही सिद्ध होता, तो यह दोष कुवादियोके कहे गए लक्षणमे आता है, इस कारण वह लक्षण नही किन्तु लक्षणाभास है। ये दोष किस प्रकार आते हैं? उनका अब वर्णन कर रहे हैं।

स यथा चेत्प्रमाणं लक्ष्यं तल्लक्षणं प्रमाकरणम् ।
अव्याप्तिको हि दोषः सदेश्वरे चापि तदयोगात् ॥७३४॥

प्रमाकरणको प्रमाणलक्षण माननेमे अव्याप्तिदोष—यदि प्रमाण लक्ष्य है और उसका लक्षण बनाया जाता है जो प्रमाका करण हो तो प्रमाकरण लक्षण है प्रमाणका, ऐसा माननेपर अव्याप्ति दोष आता है, क्योकि प्रमाका करण प्रमाण है। ऐसी बात तब सिद्ध होती जब कि जितने भी प्रमाण हैं उन सब प्रमाणोमे प्रमाकरण पाया जाता है, जो लोग ईश्वरको प्रमाण मानते हैं नैयायिक दर्शनमे कहा है कि— 'तन्मेप्रमाणं शिवः' अर्थात् वह ईश्वर मुझे प्रमाण है। तो ईश्वरको प्रमाण मान लिया तो लक्षणमे ईश्वर भी आ गया। लेकिन प्रमाकरण लक्षण ईश्वरमे नही पाया जाता। वह किस तरह नही पाया जाता? प्रमाकरणका अर्थ क्या है? प्रमाके करण क्या-क्या माने गए हैं? उनपर विचार करनेसे स्पष्ट हो जाता है कि प्रमाकरणलक्षण ईश्वरमे नही घटित होता, लेकिन प्रमाण मानते हैं तो यही तो अव्याप्ति हुआ कि जो लक्षण पूरे लक्ष्यमे नही रहता है, लक्ष्यके एक देशमे रहे तो कुछ प्रमाणोमे लक्षण किसी प्रकार सिद्ध कर लिया जाय, पर ईश्वर प्रमाकरण प्रमाणका लक्षण है, यह लक्षणाभास है शुद्ध लक्षण नही है। इसी बातको स्पष्ट करते है।

योगिज्ञानेपि तथा न स्यात्तल्लक्षणं प्रमाकरणम् ।
परमाण्वादिषु नियमान्न स्यात्तत्सन्निकर्षश्च ॥७३५॥

'प्रमाकरण प्रमाण' इस लक्षणकी योगिज्ञानमे भी अवृत्ति होनेमे अव्याप्ति दोषकी सिद्धि—ईश्वर प्रमाण माना गया है न्याय दर्शनमे, पर वह प्रमा का कारण नहीं है, प्रमाका आधार माना गया है । इस तरह भी वह लक्षण घटित नही होता था अब दूसरा लक्षण उसमे दिया जा रहा है । योगियोका ज्ञान नैयायिक दर्शनने योगियोके ज्ञानको दिव्यज्ञान माना है । ऐसा माना है कि योगिज्ञान सूक्ष्म और अमूर्त पदार्थोका भी प्रत्यक्ष करता है लेकिन लक्षण प्रमाकरण इनमे नही पाया जाता प्रमाका करण मायने साधन । क्या क्या है इद्रिय ? इन्द्रियका सन्निकर्ष, इन्द्रियका व्यापार, अब जरा विचार कीजिए कि योगिके ज्ञान होनेमें इद्रिय करण नही होरही हैं, जैसे ईश्वरके प्रमाण होनेमे इद्रिय करण नही हैं । और इंद्रियका सन्निकर्ष अर्थात् इद्रिय और पदार्थ इनका भिडाव तो जैसे इंद्रियमे सन्निकर्ष घटित नहीं होता इसी तरह योगिज्ञानमें भी इद्रिय सन्निकर्ष घटित नही होता । योगियोका ज्ञान इद्रिय और पदार्थके सन्निकर्षसे नही सम्भव है क्योकि सन्निकर्ष तो स्थूल और मूर्तिक पदार्थोंके साथ ही सम्भव है । जो सूक्ष्म हैं अमूर्त पदार्थ हैं उनमें सन्निकर्ष नही बन सकता । प्रमाण आदिक सूक्ष्म हैं, आत्मा अमूर्त है उनमे इन्द्रियसन्निकर्ष कैसे हो सकेगा ? और इन्द्रियका व्यापार भी योगिज्ञानमें नहीं है, क्योकि योगियोका ज्ञान इन्द्रियके व्यापार से नहीं चलता । तो योगिज्ञानको भी प्रमाण माना है नैयायिक दर्शनने और प्रमाणका लक्षण वहाँ घटित नही होता । अतएव यह प्रमाकरण नामक लक्षण अव्याप्ति दोपसे दूषित है वह लक्षण नहीं किन्तु लक्षणाभास है ।

वेदाः प्रमाणमत्र तु हेतुः केवलमपौरुषेयत्वम् ।
आगमगोचरताया हेतोरन्याश्रितादहेतुत्वम् ॥७३६॥

वेदप्रमाणवादियो द्वारा प्रस्तुत अपौरुषेयत्व व हेतुकी असिद्धि- वेद को प्रमाण मानने वाले वेदान्ती जरा सिद्ध तो करें कि वेद किस तरह प्रमाण हो सकते हैं ? यहाँ प्रमाणका लक्षण घटित ही नहीं होता अतएव असम्भव दोप कहना चाहिए । वेदको प्रमाण माननेमे यही तो एक हेतु दिया जाता है कि वेद अपौरुपेय हैं तो इस विषयमे सुनो ! प्रथम बात तो यह है कि वेद अपौरुपेय नही हो सकते, क्योंकि वह एक कृति है रचना है, वाक्य विन्यास है । शब्द पदोसे बनाये हुए हैं अतः अपौरुपेय होनेसे कोई बात प्रमाणभूत ही हो जाय, यह प्रमाण सिद्ध बात नहीं है । अपौरुषेय बातें तो पापकी प्रवृत्तिकी परम्परा भी है । तो क्या वह प्रमाणभूत हो जायगी ? हाँ अपौरुपेय यदि प्रमाण सिद्ध है तो प्रमाणभूत है, और अपौरुपेय बात प्रमाणभूत नही है, वह प्रमाण नहीं है । बौद्ध वेद अपौरुपेय कैसे होगा ? अनादिपनेका हेतु देते हैं कि वेद अनादि प्रवाहसे चला आया है इसलिए वह अपौरुपेय है, वह नित्य है । तो यह बतलाओ कि वह प्रवाहकी नित्यता वेदमे जो मानी हो तो क्या उस शब्दमें है या

विशेष क्रमसे रची गई जो शब्दोकी प्रक्रिया है क्या उस प्रक्रियामे अनादि प्रवाह है ? याने वेद तो शब्दरूप है । जो शब्द लिखे हैं, जिन शब्दोको पढते है वही तो वेद हैं । या कागज स्याही वगैरह वेद हैं ? कागज, स्याहीको तो कोई भी प्रमाणकी बात सोच नही सकता । शब्दकी बात हो कोई कह सकेगा कि यही वेद है । तो शब्द मात्र क्या अनादि प्रवाहसे चले आ रहे है ? या विशेष आनपूर्वी क्रमसे रचे गये जो शब्द हैं उनको कहा जा रहा है कि ये अनादि प्रवाहसे हैं ? यदि कहो कि शब्द मात्रके लिये कह रहे हैं तो जितने भी शब्द है वे सभी अनादि प्रवाहसे चले आये सिद्ध हो गये । क्योंकि अनादि प्रवाहको शब्दमात्र मान रहे तो जितने भी शब्द हैं सभी वेद कहलाने लगेंगे । तब सभीके आगम वेद कहलायेंगे उनमेसे यह नही यह है यह विश्लेषण न किया जा सकेगा । यदि कहा जाय कि जो शब्द प्रणाली कुछ क्रमपूर्वक लगाई गई है, जो धातु शब्द विभक्त वाक्यका यथाक्रममे रखना यह वेद कहलाता है और यह अनादि प्रवाहसे चला आया है । यदि ऐसा माना जाय तो वहाँ यह जिज्ञासा रहेगी ही कि इन शब्दोका इन तरह जो रखना होता है वह कैसे अनादिसे बात मानी जायगी । किसीने ही तो रखा है शब्दोका क्रम ।

वेद परिज्ञानकी अविसवादिताकी मीमासा करनेपर अपौरुषेयत्वकी असिद्धि—अथवा यह बताओ कि उन क्रमपूर्वक रचे गए शब्दोका अर्थ किसीने समझा भी है या नही ? यदि नही समझा है तब उसका कुछ ज्ञान ही न हो, कुछ बात ही नही हो रही, प्रमाण किसमे लगाया जाय ? अगर समझ हुआ है तो यह बताओ जरा कि उन विशिष्ट क्रमसे रखे गए शब्दोका अर्थ जिसने भी समझा है अथवा उसका जो कोई भी व्याख्यान कर रहा है वह सर्वज्ञ है या अल्पज्ञ है ? यदि सर्वज्ञ है तो वेदके समान सर्वज्ञके वचन भी प्रमाणरूप क्यो न माने जायेंगे ? सर्वज्ञ तो प्रमाणभूत चीज है ही । जो सबको जानता है ऐसा ज्ञान प्रमाणभूत न होगा क्या ? और, जब सर्वज्ञ सिद्ध हो गया तो सर्वज्ञताके कारण ही प्रमाण है यह मानना चाहिए । यह बात तो विचारिये कि यह वेदमे जो कुछ लिखा है वह परमार्थभूत है या नही ? लेकिन वेदका व्याख्याता सर्वज्ञ है तो सर्वज्ञताके कारण प्रमाणता आयी, न कि अपौरुषेयताके कारण आयी । यदि यह बात उठायी जाय कि नही, वेदका व्याख्यान करने वाला तो अल्पज्ञ पुरुष ही है । तो जब वेद व्याख्याता अल्पज्ञ है तो उसके कठिन कठिन वाक्यो का अर्थ वह उल्टा भी कर सकता है । वाक्य स्वय अपने अपने अर्थ दुनियाको नहीं घोषित करते कि मेरा अर्थ यह है । यदि वह पुरुष अज्ञानी है, रागादिक दोषोसे दूषित है तो वह विपरीत अर्थ निरूपण करेगा ही, अतएव सिद्धि क्या हुई ? कोई प्रमाणताकी बात नही आयी । यदि ऐसा उत्तर देते है कि व्याख्यानकी परम्परा चली आयी है । वेदोका अर्थ लोग करते चले आये हैं उन परम्पराके कारण वह व्याख्याता सही निरूपण कर सकता है ऐसा कहना भी सङ्गत नहीं है । परम्परा भी चली आयी

हो लेकिन जो सूक्ष्म पदार्थ है अतीन्द्रिय हैं उनमें अल्पज्ञोके व्याख्यानकी प्रवृत्ति सशय-रहित नही हो सकती। सशय होगा और कदाचित् उल्टा व्याख्यान भी हो सकता है। और, यह बात तो अभी ही प्रकट है कि व्याख्यान परम्परासे प्रमाणता मानी गई होती तो व्याख्यानोमे फिर नाना भेद क्यो पड गए ? कोई उसीका विधि अर्थ करता है कोई भावना अर्थ करता है, कोई उसी वाक्यका नियोग रूप अर्थ करता है। तो ये भिन्न भिन्न अर्थकी प्रतिपत्तियाँ क्यो प्रमाण मान ली गई हैं ? इस कारण प्रकट सिद्ध है कि अनादि परम्परासे वेद नही चला आया, वह अपौरुषेय नही है, प्रमाण भी नहीं है। वेद कैसे अनादि सिद्ध किया जा सकता है ?

अस्मर्यमाण कर्तृत्व व वेदाध्ययनपूर्वकत्व हेतुमे अपौरुषेयत्व साधनकी अक्षमता—यदि कहा जाय कि जब वेदका बनाने वाला आज नही है तो पहिले भी नहीं था यह तो कोई युक्ति नहीं है। इस तरह तो अनेक बातोमे भी कहा जा सकता कि इसका बनाने वाला आज नही है तो पहिले भी न था। सभी दार्शनिकोके ग्रन्थ अथवा उनकी श्रुतियाँ, उनके बनाने वाले आज नही हैं तो उन्हे भी कहा जा सकता कि उनका बनाने वाला पहिले भी न था, तो यह युक्ति कोई सङ्गत नहीं है, इसमें अविनाभावी व्याप्ति सिद्ध नही होती। यह कहना भी सङ्गत नही है कि वेदका अध्ययन अध्ययनपूर्वक चला आया है। जैसे कि आजके अध्ययनसे पहिले भी अध्ययन था अध्ययन था, यह बात प्रमाणतामे यो नही कह सकते कि सभी ग्रन्थोके लिए यह बात कही जा सकती है कि श्रुति, भारत, पुराण आदिकका अध्ययन भी अध्ययनपूर्वक है, क्योकि प्रथम अध्ययन अध्ययनपूर्वक देखा जा रहा है। तो इन बातोसे अनादिता सिद्ध नही की जा सकती। इनका करने वाला कोई नहीं है, अपौरुषेय हैं, यह बात किसी भी युक्तिसे सिद्ध नहीं बनती। यदि कोई यह कहे कि उसके कर्ताका स्मरण भी नहीं हो रहा इसलिये कोई कर्ता नहीं, तो ऐसी बहुत सी पुरानी वस्तुवें, टूटे-फूटे कुवा, मकान आदिक, जिनके कर्ताका स्मरण नहीं होता तो क्या वे भी अपौरुषेय बन जायेंगे ? उन्हे भी फिर अपौरुषेय मानें ! फिर एक वेदको ही क्यों अपौरुषेय माना जा रहा है ? आदिक अनेक बातें अनुभवमे प्रसिद्ध हैं, जिनसे यह सिद्ध होता है कि वेद अपौरुषेय नही, प्रमाणभूत नही, ज्ञान ही प्रमाण हो सकता है। ज्ञान ही प्रमाण है, इससे विपरीत कोई लोग लक्षणका कुछ भी लक्षण बनायें वह लक्षण निर्दोष नहीं हो सकता। जो केवल अपौरुषेयको हेतु बताकर वेदको प्रमाण स्वीकार करता है तो प्रथम बात यह है कि वेद कोई शब्द ही है, किसी खास प्रक्रियासे उनको योजित किया है, वे ही एक मूर्तिरूपमे लिख दिये गये हैं तो उनका यह आकार कर्तापनेको सिद्ध करता है और उसके कर्ताका अनेक लोग स्मरण भी करते हैं। जैसे पिटकत्रय ग्रथमें वेदके कर्ताका स्मरण किया है इस कारण वेद अपौरुषेय हैं, यह बात नहीं बनती। और, कदाचित् अपौरुषेय भी मान लिया जाय तो अपौरुषेय होनेके कारण प्रमाणता

नही आया करती। यदि उसका व्याख्याता अथवा मूल प्रसङ्ग सर्वज्ञ हो तो सर्वज्ञताके कारण प्रमाणता है न कि शब्दके कारण। और यदि सर्वज्ञको वक्ता मान लेते है ये वेदवादी तो उनके ही सिद्धान्तसे विरुद्धता है। उनका सिद्धान्त है कि धर्मकार्यमे वेद ही प्रमाण है। लो फिर सर्वज्ञका वचन प्रमाण बन गया और सर्वज्ञका वचन हो भी नही सकता, क्योंकि जो सर्वज्ञके वचन है उनमे पूर्वापर कही विरोध नही आता। लेकिन यहाँ कही हिंसाको मना करनेकी बात लिखी है तो थोडी दूरमे हिंसा करनेकी बात लिख देते हैं और इन शब्दोमे लिख देते है कि यज्ञमे पशुको होम दो तो वह धर्म है हिंसा नही ऐसे शब्दोमे लिख डालते हैं तो कैसे समझा जाय कि इसके प्रणेता सर्वज्ञ देव हैं। वेदको मानने वालोमे भी कुछ लोग किसी अशको प्रमाण मानते है, कोई किसी अशको। तो अनेक लोग जिस अशको अप्रमाण मानते हैं, जो ऐसे ही सारे अश है जिसे लोग अप्रमाण मानते है। किसी अशको प्रमाण कहा है तो यो भी अप्रमाण बन गया। वेदोमे जब ऋषियोके नाम भी आये हैं—अमुक ऋषि, अमुक ऋषि तो नाम ही यह सिद्ध करता है कि वेद पौरुषेय है। जिस समय ये ऋषि हुए होगे उस समय जिनका धर्म है उनका नाम रख दिया गया है।

अपौरुषेयत्व व आगमगोचरत्व हेतुमे अन्योन्याश्रय दोष—वेदको प्रमाण सिद्ध करनेके लिए एक आगमत्व हेतु दिया जाता है जिसका रूप यह है कि वेद प्रमाण है आगम होनेसे। तो यहाँ जब पूछा जाता है कि वेद ही आगम क्यो है? तो उत्तर दिया जाता है कि वेद आगम है अपौरुषेय होनेसे। अच्छा, अपौरुषेय कैसे है? उत्तर दिया जाता आगम होनेसे। तब यहाँ अन्योन्याश्रय दोष आता है। जब अपौरुषेय सिद्ध हो ले तब तो आगम सिद्ध होगा और जब आगम सिद्ध हो ले तब अपौरुषेय सिद्ध होगा। बात सीधी यो मान लेनी चाहिये कि वेदमे जो कहा है उसमे जो ज्ञान हुआ है वह सशय विपर्यय व अनध्यवसायसे यदि रहित है तो वह ज्ञान निर्दोष होनेसे प्रमाणभूत होगा। प्रतिपादित विषयकी मीमासा किये बिना न तो आगम कहकर प्रमाणता सिद्ध की जा सकती है और न अपौरुषेय कहकर प्रमाणता सिद्ध की जा सकती है।

अचेतनमे प्रमाणत्व न आनेसे ज्ञानमे ही प्रमाणत्वकी सिद्धि तथ्य दृष्टिसे विचार करनेपर वेद प्रमाण है यह बात सिद्ध नही होती, क्योंकि अचेतन होनेसे। जैसे इन्द्रियाँ प्रमाण नही है, क्योकि अचेतन है, ज्ञानस्वरूप नही है। इन्द्रिय का पदार्थोका सन्निकर्ष भी प्रमाण नही है, क्योकि वह ज्ञानस्वरूप नही है। जो ज्ञान है सो ही प्रमाण है। कभी-कभी लोकव्यवहारमे तीन बातोको प्रमाण रूपसे उपस्थित करते हैं—एक लिखित दस्तावेज, दूसरा गवाह और तीसरा कब्जाका होना। जिनके ११-२० वर्षका कब्जा है तो वे कहते है कि यह जमीन मेरी है, इसका प्रमाण है कि २० वर्षसे हमारा कब्जा है, तो वह कब्जा प्रमाण मानते है। कोई लिखित दस्तावेज

ही सामने रख देते हैं और गुस्सामे आकर कहते हैं कि देखो ! हमारा यह दस्तावेज प्रमाण है। तो वे उप स्याही, कागज आदिकको प्रमाण बोल देते हैं। कभी गवाहको सामने खडा कर देते हैं कि यह है प्रमाण ! तो वह गवाह जो सकल सूरत वाला व्यक्ति है क्या वह प्रमाण है ? वस्तुत. विचारो तो इन तीनो बातोमें ज्ञान ही आया और ज्ञान ही प्रमाण बना। २० वर्षसे कब्जा है इस तरहका लोगोको जो ज्ञान बना वह ज्ञान प्रमाण है, कब्जा क्या प्रमाण है। इसी तरह लिखित दस्तावेजको पढ कर जो लोगोको ज्ञान बना वह ज्ञान प्रमाण है, न कि वह लिखा हुआ दस्तावेज प्रमाण है। इसी तरह गवाह खडा कर दिया तो वह गवाह प्रमाण नही है, गवाह जो बात कहेगा, उससे जो ज्ञान लोगोको बनेगा, वह ज्ञान प्रमाण है। लेकिन लोकमे कहनेकी ऐसी ही रूढि है। परन्तु उसका मर्म यह है कि इन निमित्तोसे जो ज्ञान बनता है और ज्ञानमे यथार्थ बात बैठती है वह ज्ञान प्रमाण है।

एवमनेकविधं स्यादिह मिथ्यामतकदम्बक यावत् ।
अनुपादेयमसारं बुद्धैः स्याद्वादवेदिभिः समयात् ॥ ७३७ ॥

मिथ्या मतोकी स्याद्वादविरुद्धता होनेसे अनुपादेयता—उक्त कुछ श्लोको मे प्रमाणाभासोकी बात कही है अथवा जो प्रमाण ही नही है, अप्रमाण है प्रमाणाभास तो फिर भी कुछ ज्ञानसे सम्बध रखता है मगर जो ज्ञानरूप नही है वह तो प्रमाणाभास भी नही कहा जाता, किन्तु प्रमाण नही है इस तरह जैसे कि अनेक बाते अप्रमाणकी बताई इसी तरह अनेक मिथ्या जो प्रचलित मत हैं वे सब मत भी असार हैं। स्याद्वादके जानने वाले ज्ञानी संताने उनका ग्रहण नही किया है। वे ग्रहण करने योग्य नही है क्योंकि वे अप्रमाणभूत हैं। जो बात जिस मर्मको लिए हुए है उस मर्म को तो हटा दिया जाय और जो बात स्पष्ट कहा है उस ही ग्रहण किया जाय तो वह भी अप्रमाण बन जाता है। और मर्मको ग्रहण किया जाय तो उसे प्रमाण कहते हैं। तो वह प्रमाण उपचारसे हुआ। मर्मको बताया इसलिए प्रमाण कहना पडा तो यहाँ भी यह सिद्ध हुआ कि जो ज्ञान वही प्रमाण होता है अन्य कोई प्रमाण नही। इस तरह इस प्रमाणके प्रसङ्गमे यह बात सिद्ध हुई कि जो हितकी प्राप्ति और अहितका परिहार करानेमें समर्थ हो, ऐसा जो ज्ञान है सो ही प्रमाणरूप है।

उक्तं प्रमाणलक्षणमनुभवगम्यं यथागमज्ञानात् ।
अधुना निक्षेपपदं संक्षेपाल्लक्ष्यते यथालक्ष्य ॥७३८॥

प्रमाणस्वरूप कहकर निक्षेप स्वरूप कहनेका ग्रन्थकारका संकल्प—अब तक जैसा आगममे बताया है आगमके ज्ञानके अनुसार और अनुभवमे जो आने

योग्य है अनुभव गम्य है इस प्रकार प्रमाणका लक्षण कहा गया है। ज्ञान ही प्रमाण है यह बात अनुभव गम्य भी है और शास्त्रोमे भी यही बताया गया है और अनेक शङ्का समाधानमे उस बातको स्पष्ट कर दिया गया है कि ज्ञान ही प्रमाण हो सकता है। कोई ज्ञानके साधनभूत अन्य पदार्थ कारण प्रमाण नही बन सकते हैं ऐसा प्रमाण का लक्षण भली भाँति बता दिया गया। अब सक्षेपसे निक्षेपोका स्वरूप कहा जायगा। निक्षेप यह शब्द ही निक्षेपका स्वरूप ही बता रहा है। निक्षेपका अर्थ है जो किसी निर्णयमे उपयोगको फेक दे। निक्षेपका भाव है कि जो बात यथार्थ है जैसा हमने समझा है उस समझी हुई बातको जो किन्ही रूपोमे बाँधकर व्यवहारमे प्रचलित करदे उसका नाम निक्षेप है। सो ऐसे निक्षेपका विस्तार पूर्वक अब आगे वर्णन होगा।

ननु निक्षेपो न नयो न च प्रमाणं न चांशकं तस्य ।
पृथगुद्देश्यत्वादपि पृथगिव लक्ष्य स्वलक्षणादितिचेत् ॥७३९॥

प्रमाण और नयकी भाँति ज्ञानसाधनमे निक्षेपको स्वतन्त्रतया न कहे जानेके कारणकी जिज्ञासा—अब यहाँ शङ्काकार कहता है कि ज्ञानकी बात तो दो भागोमे विभक्त हो गयी नय और प्रमाण। अब यह निक्षेप नामका कुछ तीसरा क्या बोला जा रहा है ? कोई भी ज्ञान हो या तो वह नयरूप होगा या प्रमाणरूप। यदि वस्तुके सर्वस्वका परिचय हो रहा है तो वह प्रमाणरूप है, यदि वस्तुके एक देशका ज्ञान किया जा रहा है और साथ ही प्रतिपक्ष धर्मकी भी अपेक्षाकी जा रही है तो वह नय है। तो जितने भी ज्ञान हैं या तो वह नय होगा या प्रमाण। अब यह निक्षेप क्या है? निक्षेप न तो नय है न प्रमाण और न प्रमाणका अश। नय और प्रमाणने निक्षेपका उद्देश्य ही जुदा बता दिया। निर्णय की हुई चीजका कोई रूपक बाँधकर उसका प्रतिपादन किया जाय सो ही निक्षेप है, सो यह तो विपरीत स्वरूप हो गया। यह न नयमे गया न प्रमाणमे, न उसका अश बन सका। उद्देश्य जुदा है तो उसका लक्षण भी जुदा है। और जब निक्षेपका लक्षण जुदा हो गया तो निक्षेपका लक्ष्य भी कोई जुदा स्वतत्र होना चाहिए। जैसे नयका विषय वस्तुका अश कहा, प्रमाणका विषय वस्तुका सर्वस्व कहा तो निक्षेपका विषय क्या है सो बताओ वह भी कोई स्वतत्र होगा ऐसा बताना चाहिए। अब इस शङ्काके उत्तरमे कहते हैं :

सत्यं गुणसाक्षेपो सविपक्षः स च नयः स्वपक्षपतिः ।
य इह गुणाक्षेपः स्यादुपचरितः केवलं स निक्षेपः ॥७४०॥

उक्त जिज्ञासाके समाधानमे निक्षेपोकी उपचरितताका कथन- शङ्काकारकी उक्त शङ्का सत्य है जब तक कि इसपर सूक्ष्म रीतिसे विचार नही किया

नयोंका करा दिया। निक्षेप जिस पदार्थका ज्ञान कराना चाहता है वह ज्ञान नय करा देता है और उस नयकी दृष्टिमें उन निक्षेपोंका व्यवहार चलता है तो निक्षेपका काम व्यवहार चलाना है इस लिए निक्षेपका निरूपण करना आवश्यक समझा गया है।

निक्षेपः स चतुर्धा नाम ततः स्थापना ततो द्रव्यम्।
भावस्तल्लक्षणमिह भवति यथा लक्ष्यतेऽधुना चार्थात् ॥७४१॥

निक्षेपके भेद—निक्षेप चार प्रकारका कहा गया है—नाम निक्षेप, स्थापना निक्षेप, द्रव्य निक्षेप और भाव निक्षेप। इन चारोंका लक्षण क्या है? वे सब लक्षण आगेकी गाथामें बताये जायेंगे। यहाँ केवल सज्ञाओंके नामपर ही अर्थ समझा जा सकता है। नामकी बात रखना, नामका व्यवहार करना सो नाम निक्षेप है। स्थापना का व्यवहार करना क्या है कि किसीकी स्थापना करके यह वही है, इस प्रकारका व्यवहार चलाना स्थापना निक्षेप है। भूत और भविष्यकी बातोंमें वर्तमान जैसी बात कह देना यह द्रव्य निक्षेप है और वर्तमानकी बातको वर्तमानकी ही बताना यह भाव निक्षेप है। इन चार प्रकारके निक्षेपोंमें आक्षेप किस किस तरह आया है? उपचार किस किस तरहसे बना है? उसकी यह बात अगली गाथासे स्पष्ट हो जायगी।

वस्तुन्यतद्गुणे खलु संज्ञाकरणं जिनो यथानाम।
सोऽयं तत्समरूपे तद्बुद्धिः स्थापना यथा प्रतिमा ॥ ७४२ ॥

नाम निक्षेप व स्थापना निक्षेपका स्वरूप—इस गाथामें नाम निक्षेप और स्थापना निक्षेपका स्वरूप बताया गया है। अतद्गुण वस्तुमें सज्ञा करना सो नाम निक्षेप है अर्थात् जिस वस्तुमें वह गुण तो नहीं है फिर भी उस नामसे वस्तुको पुकारने लगना, उसका नाम रख देना यह नाम निक्षेप है। तो नाम निक्षेपमें गुणनिक्षेप किस तरह होता है सो देखिये। गुणाक्षेपका अर्थ यह है कि गौण पदार्थमें मुख्य पदार्थका संजोगना। जैसे नाम निक्षेपमें क्या होता? किसीका नाम बलवीरसिंह रख दिया तो वह अतद्गुण पदार्थ है, बलसे वह पूरा है ऐसा तो नहीं है और सिंहके समान वीर हो ऐसा भी नहीं है। है तो वह अत्यन्त दुर्बल रोगी, तो बलवीरसिंहपनेका कोई गुण उस पुरुषमें नहीं है वह अतद्गुण पदार्थ है वह गौण पदार्थ है। उसमें व्यवहारके लिए उस मुख्य नामका आक्षेप किया गया है। यहाँ नामको मुख्य बनाया गया है तो गौण पदार्थमें मुख्य पदार्थका आक्षेप कर देना रख देना यह कहलाता है निक्षेप। तो यहाँ अतद्गुणने नामको रख दिया सो यह नाम निक्षेप कहलाया। स्थापना निक्षेपमें भी देखिये! *जैसे भगवानकी मूर्तिमें भगवानकी स्थापना की तो किसमें की?* मूर्तिमें वह मूर्ति गौण चीज है, क्योंकि वह भगवान नहीं है। भगवान न होकर भी मूर्तिको

भगवान कहने चले हैं। तो वह मूर्ति गौण पदार्थ है। इस प्रसङ्गमें और उस गौण पदार्थमे मुख्य पदार्थका आक्षेप कर दिया याने मुख्य पदार्थ वहाँ रख दिया गया है। मुख्य पदार्थ हुआ भगवान जिसका कि व्यवहार किया जा रहा है। जिसका व्यवहार किया जा रहा है वह तो कहलाता है मुख्य साक्षात् प्रयोजन और जिसमे व्यवहार किया गया है वह है गौण। तो मूर्ति यद्यपि तदाकार है तो यहाँ तदाकार अथवा किसी दृष्टिमे तद्गुण मूर्ति है मगर वह गौण पदार्थ है और उसमें भगवानका आक्षेप किया है, सामने भगवानको रख दिया है। व्यवहारके लिए लोगोंको समझा दिया है तो मुख्यकी स्थापनाकी है। यो स्थापना निक्षेपमें भी गौण मुख्यका आक्षेपण हुआ है, इस कारण यह स्थापनानिक्षेप कहलाता है।

ऋजुनयनिरपेक्षतया, सापेक्षं भाविनैगामदिनयैः।
छद्मस्थो जिनजीवो जिन इव मान्यो यथात्र तद्द्रव्यम् ॥७४३॥

द्रव्यनिक्षेपका स्वरूप–ऋजुसूत्रनयकी अपेक्षा न रखनेसे और भावी नैगम आदिक नयोकी अपेक्षा रखनेसे द्रव्यनिक्षेपकी निष्पत्ति बनती है। जैसे अभी कोई महापुरुष छद्मस्थ ही है, भविष्यकालमें जिनेन्द्र होने वाला है तो छद्मस्थ जिनके जीवको साक्षात् होनेके समान समझना यह द्रव्यनिक्षेप है। द्रव्य निक्षेप यद्यपि तद्-गुण वाला है, मायने जो उसके गुण हैं वे उसमे बताये जा रहे हैं, परन्तु वे गुण पदार्थमें आगे होने वाले हैं, नाम और स्थापनामे तो यही था कि वहाँ उसका गुण न था। गौणमे मुख्यका आक्षेप किया था। यहाँ उस छद्मस्थ जीवको अतिनिकटकालमे केवलज्ञान होने वाला है अतएव उसे अभीसे जिन कह देना यह द्रव्य निक्षेपका विषय है। जैसे महावीर प्रभु सर्वज्ञ होनेपर ही तो जिनेन्द्र कहलाये थे परन्तु उनको पहिले भी जिनेन्द्र नहीं हुए, केवलज्ञान नहीं हुआ फिर भी अल्पज्ञ अवस्थामे ही जिन कहना यह भावी द्रव्य निक्षेप है। अथवा महावीर प्रभुको मोक्ष गए हजारो वर्ष हो गए फिर दीवालीके दिन कोई कहे कि आज महावीर प्रभु मोक्ष गए हैं यह भूतमें द्रव्य निक्षेप है। अल्पज्ञ अवस्थामे जिन कहना यह भावी द्रव्य निक्षेप है। द्रव्य निक्षेपमे गौण बात इस कारण हुई कि वहाँ द्रव्य गुणोकी अपेक्षा नही है। इस कारण भी ऋजुसूत्रनय का विषय नही है, किन्तु भूत और भावी नैगमनयका विषय है। फिर भी वर्तमानकी तरह बोल देना यह द्रव्य निक्षेप है। और यही हुआ गौणमें मुख्यका आक्षेप अथवा अतद्गुणमें उस गुणवानका आक्षेप।

तत्पर्यायो भावो यथा जिनः समवशरणसंस्थितिकः।
घातिचतुष्टयरहितो ज्ञानचतुष्टययुतो हि दिव्यवपुः ॥ ७४४ ॥

भावनिक्षेपका स्वरूप—इस गाथामे भाव निक्षेपका विषय बताया जा रहा है। वर्तमानमे जो पदार्थ जिस पर्याय सहित है उसी पर्याय वाला उसे कहना सो भाव निक्षेप है। जैसे समवशरणमें साक्षात् विराजमान अरहन्तदेव हैं, चारघातिया कर्मोंसे रहित हैं, जिनका ज्ञान, दर्शन आनन्द, वीर्य अनन्त प्रकट हो गया है जिनका शरीर दिव्य परमौदारिक है ऐसे ही अरहन्तको जिनेन्द्र कहना यह अरहन्त है, यह जिन है, इसको भावनिक्षेप कहते हैं। भावनिक्षेपमे वर्तमान तद्गुण है। उस पदार्थका वह वर्तमानमे ही कथन करता है। इसी कारण यह भाव निक्षेप ऋजुसूत्रनय और एवभूत नयका विषय है। यहाँ कोई ऐसी जिज्ञासा कर सकता है कि भावनिक्षेप और ऋजुसूत्रनय तथा एवभूतनय इन तीनोमे क्या अन्तर है? क्योकि निरूपण तो तीनोने ही वर्तमान पदार्थका किया है। तो अन्तर उनका यह समझ लेना चाहिए कि नय तो होते है विषयी अर्थात् विषय करने वाले और निक्षेप होते हैं विषय अर्थात् नयोके विषयभूत होते हैं। तो यहाँ व्यवहारकथन करनेकी अपेक्षासे आक्षेप होता है, पर यह आक्षेप एक विशुद्ध है, वही गुण वर्तमानमे है और वही गुण वहाँ बताया जा रहा है इस कारणसे यह तद्गुणारोपी निक्षेप है। यद्यपि द्रव्यनिक्षेपमे भी पदार्थका ही गुण विषय किया गया था लेकिन वह भूत या वर्तमानमे हुए गुणोका वर्तमानमे आक्षेप करता है और भाव निक्षेप वर्तमानके गुणमे ही वर्तमान गुणका कथन करता है, इस कारणमे यहाँ कालभेदसे भेद हो गया है।

दिङमात्रमत्र कथितं न्यासादपि तच्चतुष्टयं यावत् ।
प्रत्येकमुदाहरणं ज्ञेयं जीवादिकेषु चार्थेषु ॥ ७४५ ॥

सक्षेपमे निक्षेपोंके वर्णनकी परिसमाप्ति—यहाँपर चारो निक्षेपोका सक्षेपमे स्वरूप कहा गया है। इसका विस्तारसे कथन और प्रत्येक निक्षेपका उदाहरण सब पदार्थोंमे घटित किया जा सकता है। यहाँ प्रसङ्गवश निक्षेपोका सक्षेपमे कथन कर दिया गया है। जैसे जिन नाम रख दिया तो वह नाम जिन है, यह नाम निक्षेप का विषय है और जिनेन्द्रकी प्रतिमामे 'जिन' ऐसा नाम रख दिया तो यह स्थापना किया है और जो आगे भगवान होगे उनको अभीसे भगवान कह देना यह द्रव्य निक्षेप है, और जो वर्तमानमे हो भगवान हैं उनको भगवान कह देना यह भावनिक्षेप है।

उक्तं गुरूपदेशान्नयनिक्षेप प्रमाणमिति तत्वत् ।
द्रव्यगुणपर्यायाणामुपरि यथासंभवं दधाम्यधुना ॥७४६॥

द्रव्य, गुण, पर्यायोके ऊपर नय, प्रमाण व निक्षेपोके विषय विवरणका आख्यान—गुरुके उपदेशसे यह सब कथन यहाँ किया है ऐसा ग्रन्थकार कह रहे। नय

निक्षेप और प्रमाणका स्वरूप यहाँ कहा गया है, अब उनको द्रव्य, गुणपर्यायोंके ऊपर यथायोग्य घटित किया जा रहा है अर्थात् जो कुछ नय प्रमाणका वर्णन किया था उसको निक्षेपोंपर घटित करेंगे। तो इसमें सर्वप्रथम द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनों नयोंका विषय बतलाया जायगा। पीछे प्रमाणका विषय बतलाया जायगा।

तत्त्वमनिर्वचनीयं शुद्धं द्रव्यार्थिकस्य भवति मतम्।
गुणपर्ययवद्द्रव्य पर्यायार्थिकनयस्य पक्षोऽयम् ॥ ७४७ ॥

द्रव्यगुण, पर्याय प्रयोगमें द्रव्यार्थिक नयका स्वरूप— शुद्ध द्रव्यार्थिककी दृष्टिसे तत्त्व अनिर्वचनीय होता है। और तत्त्व गुण पर्याय वाला है, द्रव्य गुण पर्याय वाला है, ऐसा जो कुछ पक्ष है वह पर्यायार्थिकनयका पक्ष है। यहाँ यह बताया जा रहा है कि शुद्ध द्रव्यार्थिक नयकी दृष्टिमें तो अनिर्वचनीय होता है उसका कथन नहीं होता। और जो कथन किया जा रहा है जैसे गुण पर्याय वाला द्रव्य है, इस तरहसे जो कुछ भी तत्त्वका निरूपण है वह सब द्रव्यार्थिक नयका पक्ष है। भावार्थ यह है कि अभेद बुद्धिसे जो कुछ दर्शन है वह तो द्रव्यार्थिक नय है और उसमें भेदबुद्धि करके जो भी कथन किया जाता है वह पर्यायार्थिक नय है। कथनभेद किए बिना हो ही नहीं सकता। अतः जितना भी कथन है वह सब पर्यायार्थिकनयका विषय है। तो जो द्रव्यार्थिकनय निरखता है उसे जान लिया। अब उस विषयका जो प्रतिपादन है वह सब पर्यायार्थिकनयका पक्ष कहलाता है। जो कुछ भी निश्चयनयसे जाना है वह जाना ही है, वह अखण्ड है, निर्विकल्प है, एक रूप है, अब उसमें धर्म धर्मीका भेद किए बिना प्रतिपादन तो नहीं हो सकता। मूलमें भेद धर्म धर्मीका भेद प्रतिपादन है। तो जब भेद पूर्वक कथन होता है वह सब पर्यायार्थिकनयका विषय होता है।

यदिदमनिर्वचनीय गुणपर्ययवत्तदेव नास्त्यन्यत्।
गुणपर्ययवद्यदिद तदेव तत्त्व तथा प्रमाणमिति ॥७४८॥

द्रव्यगुणपर्याय प्रयोगमें प्रमाणका विषय – जो तत्त्व अनिर्वचनीय है वही गुणपर्याय वाला है, दूसरा और कुछ नहीं। इस प्रकारका जो निरूपण है वह प्रमाण का विषय है। तत्त्व अनिर्वचनीय है यह तो द्रव्यार्थिकनयका विषय है। और, गुण पर्याय वाला वस्तु है यह द्रव्यार्थिकनयका विषय है। और जहाँ यह समझा कि जो ही अनिर्वचनीय तत्त्व है वही गुण पर्याय वाला है तो यह प्रमाणका विषय हो गया क्योंकि प्रमाणमें दोनोंके विषयको ग्रहण किया। उस ज्ञात वस्तुमें जो विशेषांश है वह तो पर्यायार्थिकनयका विषय है और सामान्य विशेषात्मक उभयात्मक जो वस्तु है वह प्रमाणका विषय है। प्रमाण एक ही समयमें अविरोधरूपसे दोनों धर्मोंको विषय करता

है। यों निश्चयनय हुआ अभेदग्राहीज्ञान, पर्यायार्थिकनय हुआ भेदग्राहीज्ञान और इन दोनो नयोमे मैत्री करके दोनोको समान रूपसे परिचयमे लाना।

यद्द्रव्यं तन्न गुणो योपि गुणस्तन्न द्रव्यमिति चार्थात् ।
पर्यायोपि यथा स्याद् ऋजुनयपक्षः स्वपक्षमात्रत्वात् ॥७४९॥

यदिद द्रव्यं स गुणो योपि गुणो द्रव्यमेतदेकार्थात् ।
तदुभयपक्षे दक्षो विवक्षित. प्रमाणपक्षोऽयम् ॥७५०॥

द्रव्यगुणपर्यायप्रयोगमे भेदपक्ष व अभेदपक्ष—इन दो गाथाओमे भेद और अभेद पक्षकी बात कही गई है। जो द्रव्य है वह गुण नही है जो गुण है वह द्रव्य नही है। तथा जो द्रव्य गुण है वह पर्याय नही है। यह तो भेद पक्षकी बात है। द्रव्यका स्वरूप और है गुणका स्वरूप और है। द्रव्य, गुणपर्याय इन तीनोका स्वरूप न्यारा न्यारा है और इस तरह न्यारे स्वरूपको निरखना यह ऋजुसूत्रनयका पक्ष है। जो जैसा है उसको अन्यकी अपेक्षा बिना, अन्यका सम्बन्ध जोडे बिना जानना यह ऋजुसूत्रनयका विषय है, क्योंकि भेद पक्ष ही पर्यायार्थिकनयका पक्ष है। तथा जो द्रव्य है वही गुण है, जो गुण है वही द्रव्य है ऐसा कथन आया तो यह अभेदपक्षका कथन हो गया। तो पर्यायार्थिकनय तो भेद पक्षका समर्थन करता है और द्रव्यार्थिकनय अभेदपक्षका समर्थन करता है। यों इन दोनो नयोमे परस्पर भेद है।

पृथगादानमशिष्टं निक्षेपो नयविशेष इव इस्मात् ।
तदुहारणं नियमादस्ति नयानां निरूपणावसरे ॥७५१॥

नयनिरूपणावसरमे निक्षेपोका उदाहरण आनेसे नय प्रमाणके समान निक्षेपोके स्वतन्त्र निरूपणकी अनावश्यकता—इस गाथामे यह बता रहे हैं कि निक्षेप एक नय विशेषकी तरह प्रतीत होता है और निक्षेपोका उदाहरणनयोके विवेचन मे बताया गया है। जैसे कि नाम निक्षेप स्थापना निक्षेप और द्रव्य निक्षेप, ये तीन निक्षेप द्रव्यार्थिकनयके विषय हैं। भाव निक्षेप पर्यायार्थिकनयका विषय है। अन्तर नयोकी अपेक्षामे नाम निक्षेप, समभिरूढनयका विषय है द्रव्य और द्रव्यनिक्षेप नैगमनय का विषय है भावनिक्षेप ऋजुसूत्रनयका विषय है। तथा एवंभूतनयका विषय है। जिस निक्षेपने जिस प्रकारके अशको ग्रहण किया उस ढङ्गसे वे नयके विषय बनते हैं। तो चू कि निक्षेपका स्वतत्र निरूपण करना व्यर्थ था, क्योकि निक्षेपोके उदाहरण नयोके विवेचनमे आ ही जाते हैं, फिर भी निक्षेपोका जो वर्णन किया है वह प्रवृत्ति

व्यवहार चलानेके लिए किया गया है। अत निक्षेपका वर्णन करना भी कार्यकारी सिद्ध होता है।

अस्ति द्रव्य गुणोऽथवापर्यायस्तत्त्रय मिथोऽनेकम् ।
व्यवहारैक विशिष्टो नयः स ऽनेकसंज्ञको न्यायात् ॥७५२॥

द्रव्य गुणपर्याय प्रयोगमे एकपक्ष व अनेकपक्ष— अब इस प्रसङ्गमें नयपक्ष की चर्चा चलायी जा रही है। किस नयमे कैसा दृष्ट होता है और प्रमाण उसे किस तरह निरखता है, यह कुछ उदाहरण देकर विवेचित किया जायगा। इस गाथामे यह कह रहे हैं कि द्रव्य गुण और पर्याय ये हैं और ये परस्पर अनेक हैं याने जब स्वरूप दृष्टि की जाय तो द्रव्यका जो स्वरूप है वह गुणका स्वरूप नहीं, गुणका जो स्वरूप है वह द्रव्य पर्यायका नहीं, पर्यायका जो स्वरूप है वह द्रव्य गुणका नहीं। इस कारणसे ये तीनो ही अनेक हैं इन्हे व्यवहार विशिष्ट अनेक सज्ञकनय कहना चाहिए अर्थात् भेद रूपसे इन्हे ग्रहण किया इस कारण ये व्यवहार हुए, व्यवहार नाम पर्याय का है, अशका है। एक अखण्ड वस्तुमें अश अशका बोध किया गया तो पर्याय विशिष्ट को देखा गया। यो ये पर्याय विशिष्ट अनेक पर्यायार्थिकनयका पक्ष है कि द्रव्य गुण अथवा पर्याय ये तीनो ही अनेक हैं। इस तरह पर्याय विशिष्ट अनेक पर्यायार्थिक नयका पक्ष बताकर अब इससे विरुद्ध विषयको ग्रहण करले। नय पक्षकी बात कह रहे हैं।

एवं सदिति द्रव्य गुणोऽथवा पर्ययोऽथवा नाम्ना ।
इतरद्वयमन्यतरं लब्धमनुक्तं स एकनयपक्षः ॥७५३॥

द्रव्य गुण पर्यायप्रयोगमे पर्याय थिनयका पक्ष—द्रव्य अथवा गुण अथवा पर्याय ये तीनो ही एक नामसे सहित कहे जाते हैं। अर्थात् सत् न केवल द्रव्य है न गुण है न पर्याय है, किन्तु तीनो ही अभिन्न रूप एक सत् हैं और ऐसो स्थितिमे एकके कहनेसे बाकी दो का बिना कहे ही ग्रहण हो जाता है। द्रव्य कहा तो उसके साथ गुण और पर्याय तो आ ही गए। गुण कहा तो द्रव्य पर्याय उसके साथ आ ही गए। पर्याय कहा तो द्रव्य और गुण उसके साथ आ ही गए, क्योकि कोई द्रव्य ऐसा नही है कि जिसमे शक्ति न हो परिणमन न हो, फिर भी द्रव्य कहलाये। कोई गुण ऐसा नहीं होता। उसके गुण न हो, आश्रय न हों, उनका अभेद आधार न हो, परिणमन न हो फिर भी गुण कहलाये, ऐसा कोई गुण नहीं है। पर्याय भी ऐसी कोई नहीं होती कि जिसका न द्रव्य है न गुण है। किसकी पर्याय है, किस शक्तिका परिणमन है, किस द्रव्यमें परिणमन हुआ। द्रव्य गुण माना ही नहीं तो पर्याय क्या ठहरेगा ? तो पर्याय

किया गया है वही सत् अंशरहित होनेसे अभिन्न एक है। इस तरह दोनोका जो अविरुद्ध रूपमे जोड किया गया है यह हुआ उभयरूप प्रमाणपक्ष। तो एक और अनेक विषयसे सम्बन्धित यहाँ चार पक्ष उपस्थित किए गए हैं। पर्याय विशिष्ट अनेक पर्यायार्थिकनय इसकी दृष्टिमे द्रव्य, गुण पर्याय तीनो ही अनेक हैं। दूसरे हैं, एक पर्यायार्थिकनय इसकी दृष्टिमे द्रव्य गुण, पर्याय ये तीनो ही एक नामसे सत् कहे जाते हैं। तीसरा है शुद्ध द्रव्यार्थिकनय। इसकी दृष्टिमे न द्रव्य है न गुण है न पर्याय है और न विकल्पसे भी व्यक्त है। अब इन्ही तीन नय पक्षोमे जो अभिज्ञान हुआ, जो इस दृष्टिमे ऐसा है वही इस दृष्टिमे ऐसा है, इस तरह जैसा कि जो सत् पर्याय पर्याय द्रव्य गुण आदिकके द्वारा अनेक रूप भिन्न भिन्न किए गए वही सत अंशरहित होनेसे अभिन्न एक है। यह उभयरूप प्रमाण पक्षकी बात है।

अपि चास्ति सामान्यमात्रादथवा विशेषमात्रत्वात्।
अविवक्षितो विपक्षो यावदन्यः स तावदस्ति नयः ॥ ७५६ ॥

अस्ति पक्ष—वस्तु सामान्य मात्रसे है अथवा विशेष मात्रसे है। यहाँ जब प्रतिपक्ष नय गौण रहता है तब तक अनन्यरूपसे एक अस्तिनय ही प्रधान होता है। यहाँ अस्तिनास्ति पक्षके विषयमें पूर्वकी तरह चार पक्षोमे बात कही जायगी। सर्व प्रथम अस्ति नयकी बात कही जा रही है। इस नयकी दृष्टिमे पदार्थ अनन्य रूपसे एक अस्ति है। यहाँ विशेषकी अविवक्षा की गई है, एक सामान्य रूपसे अस्तित्व दिखाया गया है। क्योंकि जो सामान्यरूपसे अस्तित्व है वह विशेषरूपसे तो नही है। तो यहाँ ही उन दोनोमेसे केवल एक अस्तिको ही विषय किया जा रहा है। तो इस दृष्टिमे यह एक अस्तित्व नय कहलायगा। अस्तित्वनयके पक्षमे वस्तु सामान्य मात्रसे है अथवा जब विशेष मात्रमे भी अस्तित्व सोचा जा रहा हो तब वहाँ भी केवल विशेष मात्रको ही तका जारहा और उस दृष्टिमे अनन्यरूपसे वह अस्ति है अर्थात् है इस तरह अस्तिनयमे अस्तित्व मात्र ही दृष्टिगोचर होता है।

नास्ति च तदिह विशेषैः सामान्यस्याविवक्षितायां वा।
सामान्यैरितरस्य च गौणत्वे सति भवति नास्ति नयः ॥७५७॥

नास्ति पक्ष—इस गाथामे नास्तिनयके पक्षका विषय बताया जा रहा है। वस्तु सामान्यकी अविवक्षा नहीं है। जब सामान्यसे अस्तित्वकी विवक्षा की थी तब वहाँ अस्ति दीख रहा था। अब जब सामान्यकी विवक्षा नहीं रखी जारही है तो इस दृष्टिमें नास्तित्व देखा जा रहा है। तो जब सामान्यकी विवक्षा न रही तब विशेषकी बात आई। तो विशेषरूपसे तो नास्ति है, क्योंकि जब सामान्यसे अस्तित्वकी चर्चा है

नास्तित्व है अब तीसरी गाथामे द्रव्यार्थिकनयकी दृष्टिमें वस्तुको विकल्पातीत कहा गया है। अर्थात् स्वरूपसे अस्ति है इतना भी कथन विकल्परूप है, भेदरूप है, पर द्रव्यार्थिकनय अभेदको विषय करता है अतएव यह विकल्पातीत ही वस्तु है इसका समर्थन करते हैं। अब इस गाथामें तीन नयपक्षोका अविरोधरूपसे परिचय किया गया है। जो वस्तु स्वरूप भावसे नास्तिरूप है स्वरूप सद्भावसे अस्तिरूप है वही वस्तु विकल्पातीत है। यो उक्त तीन नयपक्षोका अविरुद्धरूपसे एक वस्तुमें स्थापना यह प्रमाणपक्ष कहलाता है। यहाँ मुख्यतया यह बात जानना कि व्यवहारपक्ष और निश्चय पक्ष दो की बात बताकर फिर प्रमाणपक्षसे स्थापना की गई है। बाकी व्यवहारपक्ष नाना प्रकारका होता है तो उस व्यवहारपक्षको यहाँ सक्षेपमे केवल दो दो भागोमें ही बताया गया है। जैसे एक अनेक पक्षमे पर्याय विशिष्ट अनेक पर्यायार्थिकनय और एक पर्यायार्थिकनय। ये दोनो ही व्यवहारनय हुए फिर निश्चयनयको शुद्ध द्रव्यार्थिकनयके रूपमे कहा। फिर इन दोनो नयोने अविरोधरूपसे एक वस्तुमे सद्भाव बताया। इसी तरह व्यवहारनयका दो भागोमे अस्ति नास्तिके सदर्भमें प्रकट किया। अस्तिनय नास्तिनयसे दोनो व्यवहारनय हैं और द्रव्यार्थिकनयमे विकल्पातीत वस्तु है इन दोनो नयोका जोड करके इस गाथामें प्रमाणपक्षकी बात कही गई है।

उत्पद्यते विनश्यति सदिति यथास्व प्रतिक्षणं यावत्।
व्यवहार विशिष्टोऽयं नियतमनित्यो नयः प्रसिद्धः स्यात् ।७६०।

नित्यपक्ष और अनित्यपक्षके विषयमे अनित्य व्यवहारनयका निरूपण अब नित्यपक्ष और अनित्यपक्षके सम्बन्धमें पक्षग्राह्यता और पक्षसे अतिक्रान्तपना ये सब दिखायेंगे। इस गाथामें यह बताया जा रहा है कि नित्य और अनित्यपक्षमे जो इस प्रकारका बोध होता है कि सत् पदार्थ अपने आप प्रतिक्षण उत्पन्न होता है और विनष्ट होता है। यह व्यवहार वाला अनित्यनय अनित्य व्यवहार कहलाता है। यहाँ ज्ञाताने यह दृष्टि रखी कि सत् वही है जो परिणमनशील हो। जो परिणमनशील नहीं है वह सत् नही हो सकता। तो सत् अपने आप ही प्रतिक्षण उत्पन्न होता और विनष्ट होता, क्योकि सत् पदार्थमें ऐसा स्वभाव ही पडा हुआ है। बस इस प्रकारका जो व्यवहार किया जाता है वह अनित्य पर्यायार्थिकनय है।

नोत्पद्यते न नश्यति ध्रुवमिति सत्स्यादनन्यथावृत्ते।
व्यवहारन्तर्भूतो नयः स नित्योप्यनन्यशरणः स्यात् ।।७६१।।

नित्यपक्ष व अनित्यपक्षके विषयमे नित्य व्यवहारनयका निरूपण—सत् न तो उत्पन्न होता है और न नष्ट ही होता है किन्तु वह नित्य है क्योकि असमे

अन्य प्रकारका भाव नहीं बनता । वह भी तो एक दृष्टिमे ज्ञात हो रहा है । इसे कहते हैं अनन्यशरण नित्यव्यवहारनय । इसमे नित्यताका व्यवहार किया गया है जो सत् है वह उत्पन्न नहीं होता । जो अनुका जो- असाध रण शाश्वत स्वरूप है जिस स्वभाव मे वह पदार्थ है वह तो वही रहता है । वह तो उत्पन्न नहीं होता और वही स्वभाव नष्ट भी नही होता । जब उत्पन्न होना नष्ट होना नष्ट है तो उसमें अन्यथाभाव भी नही जैसे आत्मामे चैतन्यस्वरूप, वह न उत्पन्न होता है, न नष्ट होता है और न कभी चेतनसे अचेतन बन पाता है, इस कारण वह नित्य है, ऐसा यह व्यवहार अपने पक्षमे नियत है । नित्य व्यवहारनय वस्तुकी नित्यता देखे, उसीको देखनेमे यह लग रहा है तो अब इसके लिए वही विषय तो शरण है । अन्य विषयकी ओर किसी भी नयकी दृष्टि नही होती । नय अपने पक्षको ही कहता है, तो ऐसा व्यवहार नित्य व्यवहारनय है । जहाँ यह परखा जाय कि सत् वस्तु न उत्पन्न होती, न नष्ट होती और न उसमे अन्यथा विपरीत कोई दूसरा भाव आता है ।

न विनश्यति वस्तु यथा वस्तु तथा नैव जायते नियमात् ।
स्थितिमेति न केवलमिह भवति स निश्चयनयस्य पक्षश्च ७६२

नित्यपक्ष व अनित्यपक्षके सम्बन्धमे निश्चयनयका निरूपण -- जिस प्रकार वस्तु नष्ट नही होती उसी प्रकार वह उत्पन्न भी नही होती । और, तथा ध्रुव भी नही है यह निश्चयनयका विषय है । अनित्य व्यवहारनयने प्रतिक्षण उत्पाद व्यय देखा नित्य व्यवहारका सदा वही शाश्वत् स्वभाव देखा जो कभी न उत्पन्न होना न नष्ट होता । और, यहाँ इस शुद्ध द्रव्यार्थिकनयने अथवा निश्चयनयने यह देखा कि वस्तु न नष्ट होती न उत्पन्न होती और न ध्रुव भी है ये तीनो ही विकल्प है । वस्तु को यदि ध्रुवताके रूपसे देखते हैं तो एक अखण्ड वस्तुमे किसी खण्डको ही तो किया । वस्तु ध्रुव है, ऐसा सोचनेमे वस्तु एक पदार्थ और उसमे ध्रुवताकी दूसरी बात ऐसा वहाँ द्वैतभाव आया । ऐसा द्वैत निश्चयनयके पक्षमे नही है । उत्पाद व्यय ध्रौव्य तीनो ही एक समयमे होने वाली सत्की पर्याय हैं इस कारण इन पर्यायोको पर्यायार्थिकनय विषय करता है । लेकिन यहाँ निश्चयनयमे कौन सी वस्तु विषयभूत हुई है । सर्व विकल्पोंसे रहित वस्तु विषयभूत हुत है । यह शुद्ध द्रव्यार्थिकनयका पक्ष है ।

यदिदं नास्ति विशेषैः सामान्यस्याविवक्षया तदिदम् ।
उन्मज्जत्सामान्यैरस्ति तदेतत्प्रमाणमविशेषात् ।।७६३।।

नित्यपक्ष व अनित्यपक्षमें व्यापक प्रमाणका विषय —उक्त तीन गाथाओ में नयपक्षकी बात बताई गई है । अब इस गाथामे प्रमाणपक्षकी बात कह रहे हैं ।

इसकी दृष्टिमे जो वस्तुसामान्यकी अविवक्षासे विशेषके रूपसे नहीं है वही वस्तु सामान्यकी विवक्षासे है। यहां नित्य अनित्यके सम्बन्धमे जो कुछ बताया गया था उसका सम्बन्ध सामान्य विशेषसे है। सामान्यरूपसे जो वस्तुमे बात प्रतीत हुई वस्तु वस्तु उस प्रकार भी है जो विशेष दृष्टिमे प्रतीत होता है, ऐसा दोनोका अभिज्ञान करना सो यह प्रमाण है। इस प्रमाणकी अपेक्षामे यह समझा गया कि पदार्थ नित्यानित्यात्मक है।

अभिनवभाव परिणतेर्योऽयं वस्तुन्यपूर्वसमयोयः।
इति यो वदति स कश्चित् पर्यायार्थिकनयेष्वभावनयः ॥७६४॥

पर्यायार्थिक अभावनय - अब तक भेद अभेद पक्ष, एक अनेक पक्ष, अस्ति नास्ति पक्ष, नित्य अनित्य पक्षका कुछ विवरण किया है। यो तो अनेक प्रकारके विषय बन सकते हैं, उनको कहाँ तक कहा जाय ? अब अन्तमे भाव अभाव पक्षकी बात कह रहे हैं। किस नयकी दृष्टिमें वस्तुमे भाव जच रहा, किस नयमे अभाव जच रहा, और किस नयमे दोनो नहीं जच रहे। और किस अपेक्षामे यह सभी जच रहा है। इस बातका अब कुछ गाथाओमे वर्णन करते हैं। वस्तुमें जब नवीन परिणाम आते हैं तो नवीन परिणाम धारण करनेसे वस्तुमें नवीन ही भाव होते है। ऐसा जो कोई कहता है तो समझिये कि वह एक अभावनय है जो कि पर्यायार्थिकनयका व्यवहार है। इस नयमे यह देखो कि वस्तुमे नवीन पर्याय आई नया भाव आया बस यह भाव ही दिख रहा है। वस्तुमें भाव भाव होता चला जा रहा है। देखिये ! जब भाव भाव होता चला जारहा है तो उसके साथ अभाव भी होता जारहा है। जैसे घट पर्याय उत्पन्न हुई तो मृतपिण्ड पर्याय विनष्ट हुई, उसका अभाव हुआ। परन्तु भावको देखने वाले नयकी दृष्टिमे केवल भाव ही भाव समाया हुआ है और इस दृष्टिमे यह बात ज्ञात हुई कि नवीन परिणाम होता रहता है वस्तुमें इस कारण उसमे नये नये भाव बनते हैं। ऐसा जो कोई जाने तो समझना चाहिए कि वह अभाव नयको जान रहा है और यह अभाव नय पर्यायार्थिकनयोमेसे ही है।

परिणममानेपि तथा भूतैर्भावैर्विनश्यमानेपि।
नायमपूर्वो भावः पर्यायार्थिकविशिष्टभावनयः ॥ ७६५ ॥

पर्यायार्थिक भावनय—इस गाथामे पर्यायार्थिक भावनयकी बात कही जा रही । वस्तु निरन्तर परिणमती रहती है। और, उसमे पूर्व पूर्व भाव नष्ट होते रहते हैं। फिर भी वस्तुमे नवीन भाव नही होता, जो था सो ही रहता है। यह पर्यायार्थिक भावनयने परखा। द्रव्यार्थिक भावनय यह देख रहा है कि वस्तुके परि

उत्पन्न होनेपर भी और उसमें पूर्व पूर्व भावके नष्ट होनेपर भी जो वस्तुका स्वभाव है, भाव है वह नष्ट नहीं होता, उसमें ध्वंसाभाव नहीं बनता उसमें उल्टा भाव नहीं बनता। तो इसने ऐसा भाव देखा जिसका कि कभी अभाव नहीं हो सकता। इस कारण इसे पर्यायार्थिक भावनय कहा गया है।

शुद्धद्रव्यदेशादभिनवभावो न सर्वतो वस्तुनि।
नाप्यनभिनवश्च यतः स्यादभूतपूर्वो न भूतपूर्वो वा। ७६६।

भाव व अभावके सम्बन्धमें शुद्ध द्रव्यार्थिकनयका विषय—शुद्ध द्रव्यार्थिकनयसे वस्तुमें सर्वथा नवीन भाव भी नहीं होता और पुराना भाव भी नहीं रहता। याने वस्तु न नवीन होती न पुरानी होती, किन्तु जैसी है वही रहती है। यह शुद्ध द्रव्यार्थिक दृष्टिसे निरखा जा रहा है। उसमें शुद्ध द्रव्य पैदा न यह भाव देख रहा न अभाव देख रहा। किसी भेदको भी नहीं ग्रहण कर रहा, किन्तु सर्व विकल्पोंसे परे एक शाश्वत् स्वरूपको तक रहा। यों शुद्ध द्रव्यार्थिक दृष्टिसे वस्तु न नवीन है, न पुरानी है यह निरखा जाता है।

अभिनवभावैर्यदिदं परिणममानं प्रतिक्षणं यावत्।
असदुत्पन्नं नहि तत्सन्नष्टं वा न प्रमाणमतमेतत् ॥७६७॥

भाव व अभावपक्षमें व्यापक प्रमाणका विषय—जो सत् प्रति समय नवीन नवीन भावोंसे परिणमन करता है वह असत् तो उत्पन्न नहीं हुआ और वहाँ सत् विनष्ट नहीं हुआ। पूर्वमें नयके तीन पक्षोंमें जो बातें पृथक पृथक दिखाई गई हैं वे ही सब बातें यहाँ प्रमाणपक्षमें बताई जा रही हैं। जो सत् नवीन भावोंसे परिणमा वहाँ असत् उत्पन्न नहीं हुआ और न सत् नष्ट हुआ। यों सबकी सम्हाल करते हुए वस्तुके सर्वस्वको ग्रहण करने वाला यह प्रमाण पक्ष है।

इत्यादि यथासम्भव मुक्तमिवानुक्तमपि च नयचक्रम्।
योज्य यथागमादिह प्रत्येकमनेक भावयुतम्। ७६८।

अन्य नयोंकी भी उक्त पद्धतिसे यथासम्भव योजनाका निर्देश—इत्यादिक अनेक नय समूह हैं, उनमेंसे कुछ कहे गए। सब तो नहीं कहे जा सकते। तो अनेक धर्मोंको धारण करने वाला और भी नय समूह जो यहाँ नहीं बताया गया उसे भी इस तरह घटित कर लेना चाहिए। नयोंमें जो बात दृष्टिमें आई आगमके अनुसार जहाँ जैसी अपेक्षा हुई उस तरह घटित कर लेना चाहिए। इस प्रमाण और निक्षेपके प्रसंग